मुक्तिबोध के समीक्षाकर्म की समकालीनता

(एम० फिल० की उपाधि के लिये प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध)

शोध निर्देशक
प्रो० नामवर सिंह

शोधकर्त्ता
राजकुमार

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली—110067
1985

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
भारतीय भाषा केन्द्र
नया महरौली मार्ग
नई दिल्ली-110067

दिनाँक: जनवरी 2, 1986

प्रमाणित किया जाता है कि श्री राजकुमार द्वारा प्रस्तुत "मुक्तिबोध के समीक्षाकर्म की समकालीनता" शीर्षक लघु शोध-प्रबंध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा किसी अन्य विश्व-विद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है ।

यह लघु शोध-प्रबंध श्री राजकुमार की मौलिक कृति है ।

| मुहम्मद हसन |
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

| नामवर सिंह |
शोध-निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

विषय सूची

1-	भूमिका	:		क - ध
2-	प्रथम अध्याय	:	मुक्तिबोध का आलोचना कर्म : विकास के सोपान	1 - 25
3-	द्वितीय अध्याय	:	परंपरा के मूल्यांकन का प्रसंग : छायावाद और शुक्लजी	26 - 73
4-	तृतीय अध्याय	:	प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता	74 - 131
5-	परिशिष्ट	:	संदर्भ ग्रंथ और सहायक ग्रंथ	132 - 135

भूमिका

बहुत ही संकोच के साथ यह लघु शोध-प्रबंध आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ । समय की कमी और लापरवाही की अधिकता के चलते यह वैसा तो नहीं बन पाया जैसा मैंने चाहा था । फिर भी छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के बारे में मुक्तिबोध के विचारों की सार्थकता को रेखांकित करने का मैंने भरसक प्रयास किया है । और इस प्रक्रिया में साहित्य से सम्बन्धित कुछ मूलभूत समस्याओं के सिलसिले में मुक्तिबोध के चिंतन की महत्ता को भी समझने - समझाने की कोशिश की है । वैसे इच्छा तो यह थी कि रचना प्रक्रिया, रूप और अन्तर्वस्तु, कविता और कविता की समीक्षा के संदर्भ में भाषा की भूमिका, कविता में फ्रायड, विचारधारा और साहित्य, साहित्य तथा राजनीति आदि प्रसंगों को लेकर अलग से लिखता । किंतु फिलहाल इन प्रसंगों को समयाभाव के कारण छोड़ना पड़ा ।

हम जानते हैं कि मुक्तिबोध ने माना था कि रचना के समाजशास्त्रीय मूल्यांकन के अलावा, रचना के भीतर से होकर गुजरना साहित्य समीक्षा के लिये आवश्यक है । इस प्रक्रिया में भाषा एक कारगर माध्यम हो सकती है । इसके अतिरिक्त, अन्तर्वस्तु आलोचना रचना प्रक्रिया और रचनाकार की विशिष्टता को समझने में भी सहायक हो सकती है । शमशेर पर लिखा गया उनका लेख संभवत: ऐसी अभीष्ट आलोचना का मूर्त दस्तावेज़ है । यह ऐसा प्रसंग था जिस पर विस्तार से चर्चा होनी चाहिये थी, लेकिन नहीं हुई ।

मुक्तिबोध ने साहित्य के उत्पत्ति-परक और प्रभावपरक पक्षों के विश्लेषण के अलावा उसकी अन्तःप्रकृति, रूप-रचना और सौंदर्यात्मक-प्रक्रिया के विश्लेषण पर बहुत बल दिया है । इस प्रसंग की भी अपेक्षित विस्तार से चर्चा नहीं हो सकी । किंतु जैसा कि प्रो० नामवर सिंह ने दिल्ली में आयोजित जनवादी लेखक संघ के सम्मेलन (सन् 83) में दिये गये अपने एक भाषण में कहा था कि "इस सौंदर्यात्मक प्रक्रिया का विश्लेषण मार्क्सवादी समीक्षा के लिए और भी जरूरी है, क्यों कि मार्क्सवादी समीक्षा में साहित्य के उत्पत्ति मूलक और प्रभाव परक पक्षों का तो बहुत सबल निदर्शन मिलता है, लेकिन साहित्य की सौंदर्यात्मक प्रक्रिया का विवेचन कम ही हुआ है ।"

इसी प्रकार मुक्तिबोध ने लिखा है कि कला और राजनीति आदि सभी वास्तविक जीवन से उत्पन्न होते हैं, इसलिये उनकी सही कसौटी वास्तविक जीवन ही हो सकता है । हम जानते हैं कि प्रगतिशील आंदोलन और उसके बाद भी कला साहित्य को राजनीति से बहुत सीधे-सीधे निर्देशित करने के प्रयास किये गये हैं । जबकि कला और राजनीति आदि सभी अधिरचना के अंग हैं, और अधिरचना आर्थिक आधार से बहुत कुछ निर्धारित होती है; यही नहीं, कला और राजनीति की अपनी विशिष्टता भी होती है । अधिरचना का ही कोई रूप अधिरचना के किसी दूसरे रूप को निर्धारित करे, इसके बजाय मुक्तिबोध ने अधिरचना के सभी रूपों को वास्तविक जीवन के संदर्भ में समझने पर बल दिया है । अब अनेक मार्क्सवादी चिंतकों ने भी साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध के बारे में नये सिरे से सोचना शुरू कर दिया है । इस प्रसंग में चीनी "साहित्य कला परिषद" के

अध्यक्ष युयोग का "पेइचिंग रिव्यू" के 13 अप्रैल 1981 अंक में प्रकाशित लेख का एक अंश उल्लेखनीय है । उन्होंने लिखा है कि "यह नारा कि साहित्य और कला राजनीति के अनुगामी हैं और उनका उद्देश्य राजनीतिक हितों की सेवा करना है, साहित्य और कला के व्यापक महत्व और कार्यक्षेत्र को सही तौर पर प्रतिपादित नहीं करता । यह नारा साहित्य और कला के व्यापक महत्व को संकुचित करके देखता है । यही नहीं, यह साहित्य और कला को बेहद साधारण ढंग से निरंतर बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों और राजनीति के अधीन करके आंकता है; परिणामतः इस नारे की कला विषय धारणा संकीर्ण उपयोगितावादी और परिणामवादी है और इसे साहित्य और कला के क्षेत्र में भौंडा राजनीतिक हस्तक्षेप कहा जा सकता है ।"

ऐसे ही कई अन्य प्रसंग थे, जो छूट गये हैं । और इसीलिये सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध के समीक्षाकर्म का यह ग्रन्थ समग्र मूल्यांकन नहीं है ।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध लिखने में मुझे डा0 मैनेजर पाण्डेय के मुक्तिबोध पर लिखे गये लेख, प्रो0 नामवर सिंह की पुस्तक "कविता के नये प्रतिमान" और अन्य दूसरे लेखों से सर्वाधिक मदद मिली । मुक्तिबोध के आलोचना कर्म पर लिखे गये कुछ शोध-प्रबंध भी थोड़े - बहुत सहायक हुए, लेकिन अधिकांश "प्रबंध" ऐसे निकले कि उन्हें पढ़ पाना मेरे बल-बूते के बाहर साबित हुआ ।

अपने शोध - निर्देशक आदरणीय प्रो0 नामवर सिंह के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन रस्म अदायगी जैसा लगेगा, लेकिन उनकी सदाशयता

का अतिरिक्त फायदा उठाते हुए मैंने जो स्वच्छंदता बरती, वह शायद दूर से देखने वाले के लिये अकल्पनीय है । क्या यह अलग से कहने की जरूरत है कि इस "प्रबंध" में जो भी सार्थक बन पड़ा है, उसमें उनका महत्वपूर्ण योगदान है ?

इस प्रबंध की सारी कमियाँ और सीमाएं मेरी हैं, और शायद कुछ हद तक मैं उनसे वाकिफ़ भी होऊँ..... ।

अन्त में मैं अपने सारे मित्रों के प्रति आभार व्यक्त कर दूँ, जो किसी न किसी रूप में मेरे अपने हैं । वैसे वे इस चीज के मोहताज नहीं कि मैं उनका नामोल्लेख करूँ, फिर भी राहुल, शशि, साधना, सुधीर का अलग से नाम लेना चाहिये, जिनके स्नेह-सिक्त व्यक्तित्व से मैंने अपने लिये जीवन-रस ग्रहण किया । इसके अलावा, गोरख पाण्डेय, रमन, उदयभान, अशोक त्रिपाठी, देवरत्न शुक्ल, दीपक मिश्र, रामकृष्ण पाण्डेय, गिरीश मिश्र, विनोद अग्निहोत्री, सुधीर रंजन सिंह "मानव" ।१। आदि सभी मित्रों के प्रति अपना "हार्दिक प्रेम" ज्ञापित करने का यह अवसर मैं यूँ ही हाथ से न निकल जाने दूँगा ।

राजकुमार

--- राजकुमार

प्रथम अध्याय

मुक्तिबोध का आलोचना-कर्म : विकास के सोपान

कहने की जरूरत नहीं कि मुक्तिबोध कवि पहले थे, आलोचक बाद में। यूँ भी कहा जा सकता है कि वे कवि-आलोचक थे। उनको कभी व्यवस्थित ढंग से लिखने की परिस्थिति और मनः स्थिति नहीं मिली। इसका नतीजा यह हुआ कि उनका आलोचनात्मक लेखन बहुत सुसम्बद्ध नहीं है। वे पेशेवर सिद्धहस्त आलोचक नहीं थे। उनके लेखों में बहुधा दुहराव-आवृत्ति दिखाई देती है। यह ऐसी प्रक्रिया है जो उनके समूचे लेखन में आद्यन्तसमानन्द है। निबन्धों-लेखों में उनके विवेचन का बल (इम्फेसिस) संदर्भानुसार बदला हुआ है। ऊपर से देखने पर यह "इम्फेसिस" का फर्क कभी-कभी परस्पर विरोधी भी लग सकता है। इसलिए मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन का मूल्यांकन करते समय एक ऐसी ईमानदारी की जरूरत है, जो उनके मूल मंतव्य को हृदयंगम कर सके --तभी वह उनके साथ न्याय कर पायेगा। अन्यथा उनके कुछ वक्तव्यों या वाक्यों को संदर्भ से च्युत करके मनमाने ढंग से उद्धृत करने पर विरोधाभासपूर्ण बाजीगरी का कमाल भी दिखाया जा सकता है। और जिनका हुनर हाथ की ऐसी सफाई दिखाने में माहिर हो, उनके हाथों ऐसा हो जाना "सहज ही संभाव्य है"।

मुक्तिबोध की रचनाओं को पढ़ते हुए -- चाहे वे आलोचना हो या कविता, उपन्यास हो या कहानी -- लगता है कि उनकी सारी रचनाओं के बीच कोई न कोई आंतरिक सम्बन्ध अवश्य है ।..... और शायद किन्हीं अर्थों में वे एक दूसरे की पूरक भी हैं । अब हम उनकी आलोचना पढ़ रहे होते हैं तो इस बात की अनुभूति अनवरत होती रहती है जैसे वे अपनी कविता के लिए जमीन तैयार कर रहे हैं ..... कि उन्हें क्या लिखना है और कैसे लिखना है ? कौन से सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धान्त संगत हैं और यदि संगत नहीं हैं तो क्यों नहीं हैं ? उनमें क्या एक अंश भी ऐसा है जो हमारे काम का है ? यदि है तो क्यों न उसे स्वीकारा जाय, उसे लाभ उठाया जाय । जैसे किसी भी बात को स्वीकार करने या नकारने के पूर्व वे वाद-विवाद दोनों को खूब ठोंक बजा-कर देख लेना चाहते हैं । कोई बात उनके तर्क तक गले नहीं उतरती, जब तक उन्हें खुद यह विश्वास नहीं हो जाता कि वह सच है । मुक्तिबोध की यह मूल प्रवृत्ति है । इसकी वजह से उन्हें अनेक घाटे भी हुए हैं तो कुछ मुनाफे भी उठाने पड़े हैं । इनसब बातों की इस जगह विस्तार से चर्चा करना तो संभव नहीं, लेकिन मुक्तिबोध का जो विकास-यात्रा है उसकी विशिष्टता को समझने के लिये उनकी इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखना संभवतः उपयोगी होगा ।

मुक्तिबोध की विकास यात्रा को तीन खंडों में रखने का प्रयास किया गया है --

(1) प्रथम काल : इसे 30-40 के बीच रखा गया है । इस दौरान मुक्तिबोध ने छायावादी शैली के प्रभाव में अनेक कविताएँ लिखी थीं, जो रचनावली के प्रथम भाग में अब प्रकाशित हैं ।

(2) द्वितीय या मध्यकाल : इसे 40-50 के बीच रखा जा सकता सकता है । इसे विकासमान वर्गसंघर्षीय एवं मार्क्सवादी आस्था का काल कहा जा सकता है ।

(3) तृतीय या प्रौढ़ काल : सन् 50 के बाद लिखी गयी सारी रचनाओं को इसके अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

इस काल-विभाजन के प्रसंग में विस्तृत टिप्पणी करने के पूर्व उनकी दो महत्वपूर्ण पुस्तकों "कामायनी एक पुनर्विचार" एवं "एक साहित्यिक की डायरी" के रचनाकाल के बारे में कुछ बातें कर लेना आवश्यक है । उल्लेखनीय है कि इस कामायनी के बारे में मुक्तिबोध के दो लेख आलोचना एवं हंस में छपे थे । लेकिन सन् 50 के बाद उन्होंने इस विषय में एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी, किंतु यह पुस्तक तय करके भी प्रकाशित नहीं हो पायी । वे स्वयं लिखते हैं कि इस घटना के बाद उन्होंने इस पुस्तक को पुनः संशोधित किया । "कामायनी : एक पुनर्विचार" के रूप में हमारे सामने जो पुस्तक है, वह वही परिवर्तित रूप है । इसकी प्रकाशन-तिथी 1961 है ।

इसी प्रकार "एक साहित्यिक की डायरी" की प्रकाशन-शृंखला सन् 50 से 63 तक चली गयी है । यद्यपि यह सही है कि कामायनी पर

मुक्तिबोध के लेख सन् 50 के पूर्व लिखे गये थे, लेकिन बाद में उन्होंने जो संशोधन-सम्पादन की क्रिया की उसे सन् 61 में इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व तक चली आयी माना जा सकता है । फिर भी यह ध्यान में रखने की बात है कि "कामायनी : एक पुनर्विचार" का मूल रूप सन् 50 के पूर्व अर्थात "एक साहित्यिक की डायरी" के सिलसिलेवार प्रकाशन के पहले अस्तित्व में आ चुका था । लेकिन "कामायनी:एक पुनर्विचार" की इस वीजरूप प्राचीनता के बावजूद इन दोनों पुस्तकों के उस रूप में जो आज हमारे सामने है, कालावधि की समानता है । मुक्तिबोध के आलोचनात्मक विकास को लक्षित करते समय इन तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है ।

मुक्तिबोध की आलोचनात्मक विकासयात्रा पर गौर करना संभवत: इसलिये भी आवश्यक हो गया है क्योंकि अब तक जिन लोगों ने भी उनके आलोचनात्मक साहित्य पर लिखा, उन्होंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि उनके यहां किसी प्रकार का विकास गोचर होता है या नहीं, इसलिये संभवत: यह सार्थक होगा कि मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन के कालक्रमिक विकास की चर्चा की जाय । अस्तु ।

35-40 के दौरान मुक्तिबोध ने छायावादी शैली के प्रभाव में अनेक कविताएं लिखीं, किंतु उल्लेखनीय है कि इस दौरान मुक्तिबोध द्वारा लिखा गया कोई लेख नहीं मिलता ।

सन् 40-50 के बीच मुक्तिबोध ने कामायनी पर "हंस" में दो लेख लिखे । इसी समय करीब 9 लेख लिखे गये, जिनमें से

"आत्मवक्तव्य" - । बहुत महत्वपूर्ण है । इस दशक का अन्त होते - होते "एक साहित्यिक की डायरी" के लेखन की शुरुआत होती है ।

"कामायनी" पर मुक्तिबोध द्वारा लिखे गये लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं कि उन्होंने कामायनी को एक विशाल पैटेर्न घोषित करते हुए उसके अर्थ को वर्तमान ऐतिहासिक संदर्भों में उद्घाटित करने का प्रयास किया और इस प्रक्रिया में उसके अन्तर्तत्वों का विश्लेषन करते हुए उसमें निहित अन्तर्विरोधों को पहचाना है ।[1]

"हंस" और "आलोचना" में छपे उनके लेखों की "कामायनी: एक पुनर्विचार" पुस्तक से मिलान करने पर यह साफ जाहिर हो जाता है कि मुक्तिबोध की मूल मान्यताएं इस पुस्तक में भी वही हैं, जो उन लेखों में थी । मुक्तिबोध की इस बहुचर्चित एवं मान्यता प्राप्त पुस्तक में मुख्य रूप से दो कमियाँ बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं । एक तो यह कि इसमें अत्यधिक आवृत्ति - दुहराव है -- लगता है कि यदि इस पुस्तक को वे ठीक से सम्पादित करते तो इसका कलेवर बहुत कुछ कम हो जाता । यह प्रवृत्ति ऐसी है जो मुक्तिबोध के अधिकांश लेखन में व्याप्त है । कभी कभी एक ही बात भिन्न शैलियों के अन्तर्गत दुहराई जाती है । आलोचनात्मक लेखन में यह दुहराव अधिक खटकता है । "कामायनी : एक पुनर्विचार" की दूसरी समस्या श्रद्धा और मनु के चरित्रों के सामाजिक-स्तरण के निर्धारण को लेकर है । उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध ने कामायनी का मूल्यांकन राष्ट्रीय आंदोलन, मार्क्सवाद के अधःपतन, साम्राज्यवाद के उपनिवेशवादी, फासिस्ट और संहारक रूप आदि प्रसंगों के संदर्भ में किया है । इस पुस्तक में मुक्ति-

---

1. देखें, अध्याय - 2.

बोध की कोशिश यह रही है कि मनु और श्रद्धा को तत्कालीन किन्हीं ठोस सामाजिक शक्तियों के प्रवृत्ति-रूप से जोड़ दिया जाय। यह समस्या इतनी जटिल है कि किसी भी प्रकार के यांत्रिक सूत्रीकरण में संभलती नहीं। यही कारण कि मुक्तिबोध मनु को कहीं विनष्ट हो गये सामंती समाज के प्रतिनिधि के रूप में देखने पर जोर देते हैं तो कभी नयी पूँजीवादी शक्तियों के विकास के कारण उत्पन्न हुई व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों से जोड़ने से लगते हैं। यही नहीं, मनु के चरित्र को साम्राज्यवाद के फासिस्ट रूप के साथ भी संलग्न करने का प्रयास भी दिखता है। डा० राम विलास शर्मा के शब्दों में "सारांश यह है कि मनु सामंतवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद -- सभी का एक साथ प्रतिनिधि है।[1] यही हाल श्रद्धा के चरित्र-निर्धारण को लेकर भी है-- श्रद्धा के रूप में जहाँ एक ओर नवजागरण की वाणी मुखरित होती है, वहीं इसकी दूसरी ओर उसमें सामंती पिछड़ी मानसिकताजन्य विचार भी मौजूद हैं। यही कारण है कि जो श्रद्धा प्रारंभ में मनु को सकर्मक और प्रसन्न बनाती है, बाद में सामाजिक जीवन की धारा से मनु के अलग हो जाने की प्रक्रिया में सहायक बनती है। इन दोनों चरित्रों के सामाजिक रूप के निर्धारण को लेकर जो तनाव है वह पूरी पुस्तक में मौजूद है। और शायद इस वास्तविकता से मुक्तिबोध भी वाकिफ थे, क्योंकि इस किताब में इन दोनों चरित्रों की इन द्विविध विशेषताओं को समेट लेने की छटपटाहट स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। श्रद्धा और मनु को भारतीय समाज की विकासमान गतिशीलता से संयोजित करने की प्रक्रिया में उन्हें किन्हीं खास प्रवृत्तियों के साथ नैतिक रूप में बाँध देने की प्रवृत्ति दिखायी देती।

---

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 165.

और इस खामी से उबरने की कोशिश में किन्ही दूसरी प्रवृत्तियों के साथ इन चरित्रों का तादात्म्य करा दिया जाता है ..... बीच की कड़ी को जोड़ने के लिए जो तर्क लाये जाते हैं, वे बहुत संगत नहीं बन पाते । इसका कारण यह है कि इन प्रतीकों को विकासशील गतिशीलता और सम्पूर्णता में लेने से अधिक इन्हें किन्ही खास प्रवृत्तियों के स्थिर खाइए के रूप में देखने की प्रवृत्ति ज्यादा सबल है । जबकि जिस क्रम से वास्तविकता में परिवर्तन होता गया है, उसी क्रम से उन्होंने प्रसाद जीने प्रतीकों के रूप और अर्थ में परिवर्तन किया है । इस दृष्टि से प्रसाद जी के प्रतीक सर्वथा नये हैं क्योंकि ये परिवर्तनशील और विकासशील प्रतीक हैं ।"[1] कहना न होगा कि मुक्तिबोध द्वारा विवेचित श्रद्धा और मनु के प्रतीकों में इस परिवर्तनशील गत्यात्मकता का बहुत संगत निर्वाह नहीं हो पाया है ।

इस दौर में मुक्तिबोध द्वारा लिखे गये लेखों की संख्या करीब 9 ठहरती है । इन सारे लेखों में आत्मवक्तव्य । मुक्तिबोध की विकास - यात्रा को समझने के लिहाज से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । यह लेख पहले सन् 43 में तार सप्तक में छपा था । इसी लेख में उन्होंने लिखा है कि --"दार्शनिक प्रवृत्ति - जीवन और जगत् के द्वन्द्व -- जीवन के आन्तरिक द्वन्द्व -- इन सबको सुलझाने की, और एक अनुभवसिद्ध व्यवस्थित तर्क प्रणाली अथवा जीवन दर्शन आत्मसात कर लेने की, दुर्दम्य प्यास मन में हमेशा रहा करती । आगे चलकर मेरे काव्य की गति को अनिश्चित

---

1. इतिहास और आलोचना, इलाहाबाद, 64, पृ0 154.

करने वाला सशक्त कारण यही प्रवृत्ति थी ।..... 38 से 42 के पाँच साल वर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे ।..... वर्गसाँ की स्वतंत्र क्रियमाण जीवनशक्ति के प्रति मेरी आस्था बढ़ गयी थी । फलत: काव्य और कहानी नये रूप प्राप्त करते हुए भी अपने ही आसपास घूमते थे, उनकी गति ऊर्ध्वमुखी न थी । .... सन् 42 के प्रथम और अन्तिम चरण में मैं एक ऐसी विरोधी शक्ति के सम्मुख आया जिसकी प्रतिकूल आलोचना से मुझे बहुत कुछ सीखना था ।..... क्रमश: मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ । अधिक वैज्ञानिक, अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ ।"[1]

यदि मुक्तिबोध के इस वक्तव्य को हम प्रमाण मान लें तो यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाता है कि सन् 42 के बाद से उनके लेखन में वह दौर शुरू होता है जिसके निर्माण में मार्क्सवाद की प्रमुख भूमिका है । उल्लेखनीय है कि सन् 40 और 45 के बीच मुक्तिबोध द्वारा लिखे कुल तीन ही लेख मिलते हैं तो भी यदि हम उसमें उनके "आत्मवक्तव्य-1" को भी शामिल कर लें । इससे नतीजा यह निकलता है कि मुक्तिबोध का अधिकांश आलोचनात्मक लेखन मार्क्सवादी प्रभाव में आने के बाद हुआ ।

प्रसंगात् यहाँ यह चर्चा करना अनपेक्षित होने पर भी आवश्यक है कि मुक्तिबोध ने तार सप्तक के दूसरे संस्करण के लिये, जो 1966 में

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 154.

प्रकाशित हुआ था, एक वक्तव्य लिखा था । इसका लेखन-काल रचनावली के अनुसार 63 है । उस वक्त की अपनी हालत का बयान करते हुये उन्होंने लिखा था कि "अचानक अन्तर्मुख दशाएं और भी दीर्घ और गहनतर होती गयीं, किंतु यह भी तथ्य है कि इस आत्मग्रस्तता के बावजूद और शायद उसको साथ लिये लिये मेरा आत्म संघटन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा ।"[1] डा० राम विलास शर्मा ने इस वक्तव्य के प्रसंग में अपनी पुस्तक नयी कविता और अस्तित्ववाद में प्रश्न उठाया है कि "ये अन्तर्मुख दशाएं क्या थीं, कैसे गहनतर होती गयीं, आत्मग्रस्तता का रूप कैसा था, उसके बावजूद या उसको साथ लिये आत्मसंघटन कैसे समाज के व्यापकतर स्तर छूने लगा -- मुक्तिबोध के काव्य का विवेचन करते हुए इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है ।"[2]

यहाँ प्रसंग मुक्तिबोध के काव्य के विवेचन का नहीं है किंतु जहाँ तक मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन का सवाल है उसमें यह जवाब मौजूद है, और उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है । अपने इसी वक्तव्य में उन्होंने अन्तर्मुख दशाओं के व्यापकतर होने के प्रसंग को रेखांकित कर दिया था, जो कदाचित् डा० शर्मा की नजरों में नहीं चढ़ पाया । लिखा है " पिछले बीस वर्षों मेंनमालूम कितनी घटनाएँ घटित हुईं । वे सबके सामने हैं । मेरी अपनी जिन्दगी किन तंग गलियों में चलकर काटती रही, उन्हें देखते हुए यही मानना पड़ता है कि

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 276.
2. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 120.

साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों को अस्तित्व-संघर्ष के प्रयास में ही समाप्त होता है। मेरा अपना सुदीर्घ अनुभव बताता है कि व्यक्ति स्वातंत्र्य की वास्तविक स्थिति केवल उनके लिये है, जो उस स्वातंत्र्य का प्रयोग करने के लिये सुपुष्ट आर्थिक-आधार रखते हैं, जिससे कि वे परिवार सहित मानवोचित जीवन व्यतीत कर सकें और साथ ही व्यक्ति स्वातंत्र्य का ऐसा प्रयोग भी कर सकें जो विवेकपूर्ण हो और लक्ष्योन्मुख हो। अपने जीवन के आर्थिक आधार को दृढ़ और सुपुष्ट करने के लिये व्यक्ति के व्यवसायीकरण का मार्ग ही सामने आता है। मेरे लेखे यह अत्यन्त ही अनुचित मार्ग है और कम से कम मैं उसे कभी स्वीकार नहीं कर पाया, लेकिन वह मार्ग तो सामने आता ही है और व्यवसायीकरण व्यापारीकरण का दबाव तीव्रतर होता जाता है। सच तो यह है कि व्यक्ति की सच्ची आत्मपरीक्षा उसकी आध्यात्मिक शक्ति की परीक्षा का सबसे प्रधान समय, उसके इम्तहान का सबसे नाजुक दौर यही आज का युग है।....... जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यंतर लोक में भी दुःस्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारुण सत्य है। मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है।"[1]

उपर्युक्त वक्तव्य में स्वातंत्र्योत्तर भारत के विकास की मुख्य प्रवृत्ति "व्यवसायीकरण" का हवाला दिया है और यह भी स्पष्ट कर दिया है इस पूँजीवादी विकास में सामान्य लोगों के लिये व्यक्तिस्वातंत्र्य का अर्थ क्या हो सकता है। इस व्यवसायीकरण के सामने घुटने टेकने

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 276.

का अर्थ उस व्यवस्था से जड़ीभूत सामंजस्य स्थापित करने, अपने "आत्मज सत्यों" को छिपाने या उन्हें काटकर फेंक देने के सिवाय क्या हो सकता है । मुक्तिबोध ने अपने अनेक लेखों, कविताओं और कहानियों में इस सत्य को प्रकट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार व्यवस्था से जड़ीभूत सामंजस्य स्थापित कर लेने पर व्यक्ति अपनी प्रतिरोध क्षमता खो देता है और उसके बने रहने में चाहे अनचाहे वह भी मददगार बनबैठता है । मुक्तिबोध इस जड़ीभूत सामंजस्य स्थापित कर लेने वाली अैड्जस्टमेन्ट सामाजिकता के विरोधी थे, दूसरी ओर भारत में इस प्रवृत्ति का विरोधी कोई व्यापक जनवादी आंदोलन भी उस समय नहीं था -- ऐसी स्थिति में अन्तर्मुख दशाओं का प्रदीर्घ होते जाना मानवीय मूल्यों के प्रति दुर्दान्त आस्था और ईमानदारी का प्रमाण है । इस द्वन्द्व भरे विरोधी वातावरण में जेनुइन वर्गांतरण और दायित्व-बोध की अनुभूति कितनी जटिल हो सकती है -- इस बात का प्रमाण है मुक्तिबोध का समूचा काव्य । वर्गांतरण, दायित्वबोध (या अपराध बोध) जड़ीभूतता या सत्य को लाभ-लोभ की खातिर छिपाने की प्रवृत्ति-- इनसब को मुक्तिबोध ने अनेक रूपकों, प्रतीकों, बिम्बों एवं मिथकों के जरिये व्यक्त करने का प्रयास किया है । मुक्तिबोध संभवत: हिन्दी के पहले लेखक हैं जिन्होंने व्यवसायीकरण की प्रक्रिया के चलते व्यक्ति मन पर पड़ने वाले वस्तुकरण (रे-ई-फिकेशन) और व्यक्तित्व के विघटन के प्रभाव को इतनी गहराई से महसूस किया और उसे सामाजिक संदर्भों से जोड़ते हुए वाणी प्रदान की। नयी कविता की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए उन्होंने दिखाया कि नयी कविता का दौर संयुक्त परिवार के विघटन, पुराने मूल्यों के विनाश, नये मूल्यों के अभाव और अस्तित्ववाद आदि का दौर था । यह वह दौर था

जब अखिलभारतीय स्तर पर अन्य रूप में और हिन्दी क्षेत्र के स्तर पर विशेष रूप से कोई जनवादी आंदोलन नहीं था। यह वह दौर था जब नेहरू का प्रभाव इतना व्यापक था कि तमाम प्रगतिशीलों के लिये भी उस समय की आर्थिक नीतियों के वास्तविक निहितार्थों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पाना संभव नहीं हो पा रहा था -- ऐसे दौर में यदि मुक्तिबोध ने व्यवसायीकरण, अवसरवाद, मूल्यहीनता और व्यक्तित्वके विघटन की बात पकड़ी, तो समझना चाहिए कि वह भारत के विकास की भूल दिशा की ओर संकेत कर रहे थे और बता रहे थे कि इन प्रवृत्तियों से संघर्ष किये बिना कोई भी जनवादी-समाजवादी आंदोलन आगे नहीं बढ़ सकता। इसके विपरीत डा० शर्मा छायावाद से अपना अनन्य सम्बन्ध घोषित करते रहे और नेहरू का सकारात्मक मूल्यांकन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सारी गलती समाजवादियों की थी गोया समाजवादी सत्ता में आना ही नहीं चाहते थे वरना नेहरू ने तो हर-चन्द कोशिश की कि आगे बागडोर ... समाजवादियों के हाथ में हो। लिखते हैं "नेहरू ने लगभग बीस साल तक भारत में जनतांत्रिक व्यवस्था बहाल रखकर समाजवादियों को यह अवसर दिया कि वे जनता को संगठित करके कांग्रेस के विकल्प के रूप में प्रस्तुत हों।"[1]

वस्तुतः मुक्तिबोध की वर्ग-संघर्ष की समझ ज्यादा गहरी और समग्रता मूलक है। वे वर्ग-संघर्ष को फुटबाल या हाकी की दो टीमों के बीच किसी नियत दिन और समय पर होने वाले मैच की तरह

---

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 46.

सरलीकृत रूप में नहीं देखते, बल्कि यह बताना चाहते हैं कि वर्ग-संघर्ष की यह प्रक्रिया निश्चित उत्पादन सम्बन्धों के बीच चलती है, और ये उत्पादन सम्बन्ध विभिन्न वर्गों को अपने अनुकूल ढालने का प्रयास करते हैं। इसका असर व्यक्ति और उसके चरित्र पर पड़ता है। इसी-लिये यह संघर्ष दोहरा है -- बाहर भीतर दोनों ओर चलता है। अपने को बाजार की एक खरीदी - बेची जाने वाली वस्तु बना दिये जाने की प्रक्रिया का विरोध किये बगैर शासक - शोषक वर्ग का भी विरोध नहीं किया जा सकता। यह सवाल केवल मुख्य अन्तर्विरोध और गौण अन्तर्विरोध जैसे सरलीकरण का नहीं है, बल्कि पूरी प्रक्रिया को समग्रता में लेने का है।

डा० राम विलास शर्मा का "विश्वास है कि "सन 47 के बाद उनके मन पर फ्रायड और युंग के मनोविश्लेषण शास्त्र का असर गहरा होता है, फलस्वरूप अन्तर्मुख दशायें दीर्घ और गहनतर होती गयीं।"[1] लेकिन डा० शर्मा अपने इस वक्तव्य को पुष्ट करने के लिये पहले की तरह मुक्तिबोध के किसी लेख का हवाला नहीं देते। जहाँ तक देखने में आता है मुक्तिबोध के किसी भी लेख में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिससे यह साबित हो कि उन पर मनोविश्लेषण शास्त्र का गहरा असर था। अपनी बात की पुष्टि के लिये वे जिन कविताओं की चर्चा करते हैं, उनसे भी यह तथ्य प्रमाणित नहीं होता। चूँकि यहाँ उद्देश्य मुक्तिबोध

---

1. नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ० 124.

की कविताओं पर विचार करना नहीं है, इसलिये संभवत: उस प्रसंग पर विस्तार में विचार करना विषयांतर होगा, फिर भी एक उदाहरण देखें --

> चुपचाप धँसाये गये, छिपाये गये रत्न मन के, जन के ।
> जो मूल सत्य हैं इस जग के परिवर्तन के ।।

यह अंश "औ काव्यात्मक फणिधर" से लिया गया है और शर्मा जी के अनुसार इससे उपचेतन की अवधारणा की पुष्टि होती है । लेकिन जो भी मुक्तिबोध की कविताओं की रूप-प्रकृति और संदर्भ से वाकिफ है, उसे यह समझने में देर नहीं लगेगी कि ये बातें वे पूँजीवाद के जन विरोधी रूप और व्यवसायीकरण के दबाव के चलते बनने वाले चरित्र के प्रसंग में कह रहे हैं ।

यह बात सच है कि मुक्तिबोध अपने को न केवल प्रगतिवाद बल्कि प्रयोगवाद और नयी कविता से भी सम्बद्ध करते हैं । किंतु केवल प्रयोगवाद या नयी कविता से उनकी घोषित औपचारिक सम्बद्धता से भड़कने की जरूरत नहीं है, बल्कि यह देखने की है मुक्तिबोध प्रगतिवादी प्रयोगवादी या नयी कविता को किस रूप में देखते हैं और उनकी साहित्य समाज, राजनीति आदि के विषय में मान्यताएं क्या हैं । मुक्तिबोध के आलोचनात्मक लेखन को देखने से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रगतिवादी रचना-आलोचना से पूर्णत: संतुष्ट नहीं हैं । एक ईमानदार मार्क्सवादी की तरह वे इस असंतुष्टि को बाकायदा लेकिन बड़ी पीड़ा और

कष्ट के साथ बयान भी करते हैं और बताने की कोशिश करते हैं कि गड़बड़ी कहाँ है। दूसरी ओर जब प्रगतिवादी मूल्यों-सिद्धान्तों पर कोई आक्रमण करता है, तो बढ़चढ़ कर वे उसका बचाव भी करते हैं।

उनकी आलोचना से कट-छँट कर जो नयी कविता बचती है, देखना चाहिए उसमें और प्रगतिवादी मूल्यों के साहित्य में क्या सम्बन्ध बनता है।

मुक्तिबोध ने यह बार बार लिखा है कि प्रगतिवादी आलोचकों ने नयी कविता का अंधाधुंध विरोध करके प्रतिक्रिया के हाथ ही मजबूत किये; जबकि जरूरत इस बात की थी कि नयी कविता का तद्युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में मूल्यांकन किया जाता। किंतु हुआ यह कि नयी कविता को कुछ जड़ सूत्रों में फँसाने की कोशिश की गयी, जब वह फँसती नहीं दिखी तो उसे पूर्णतः खारिज कर दिया गया।

मुक्तिबोध यह नहीं कहते कि वे नयी कविता के साथ नहीं थे। बल्कि सच पूछा जाय तो उनका अधिकांश आलोचना-कर्म नयी-कविता को लेकर ही हुआ है, और यह भी देखा जा सकता है कि नयी कविता को लेकर उनका रुख उत्तरोत्तर कटु होता गया है।[1]

---

1. देखें - अध्याय 3।

इस प्रकार यह लगभग तय सा लगता है कि सन् 52 के बाद मुक्तिबोध के लेखन में एक नया मोड़ आता है । चूँकि यहाँ प्रसंग मुक्तिबोध के समीक्षा-साहित्य तक सीमित है, इसलिये उनके 52 के पूर्व लिखे गये लेखों का 52 के बाद लिखे गये लेखों से तुलना करके यह अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है ।

"साहित्य के दृष्टिकोण" शीर्षक (रचना काल 51) से लिखा गया लेख देखने पर पता चलता है कि मुक्तिबोध की यथार्थवादी के विषय में अभी जो धारणा है वह बहुत संगत नहीं है । इस लेख में वे लिखते हैं कि "पहले यथार्थवादी स्कूल में फैशनेबुल लोगों के रीति-रिवाज का चित्रण अधिक रहा और दूसरे यथार्थवादी स्कूल में कुरूपता का ही वर्णन अधिक रहा ।..... एक तीसरा यथार्थवादी स्कूल और हुआ, जिसमें मनुष्य की काम सम्बन्धी बातों का खुले आम वर्णन किया गया और "प्राइवेट लाइफ" ही सामने अधिक आई । यह स्कूल भी साधारणतः उच्च श्रेणिय नागरिक जीवन का चित्रण करता रहा है और प्रकृतिवादी स्कूल कहलाया ।"[1] यही नहीं, इस लेख में वे आगे लिखते हैं -- "परन्तु व्यक्ति जितना सामाजिक है उतना ही वैयक्तिक । कभी कभी यथार्थवादी को भी कविता लिखने की सूझती है और कल्पना-प्रधान कलाकार को कहानियाँ और लेख ।"[2] यहाँ यथार्थवाद को कहानी, लेख या उपन्यास के क्षेत्र तक सीमित कर दिया गया है । इससे यह प्रकट होता है कि मुक्तिबोध के मन में यथार्थवाद की धारणा अभी बहुत स्पष्ट नहीं है ।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 20.
2. वही0 पृ0 22.

1941 में लिखे गये "आधुनिक हिन्दी कविता में यथार्थ" नामक लेख में मुक्तिबोध का व्यक्तिवादी रुझान ज्यादे खुले रूप में सामने आता है, लिखते हैं --"मनुष्य साधारणत: मानस के ऊपरी सतह पर रहता है। उसकी विविध इच्छायें, अभिमान, बौद्धिक ज्ञान भी इसी छिछले पानी में पनपने से उसे बाह्य की ओर ले जाते हैं। बाह्य जगत में संतोष नाम की चीज नहीं मिल सकती। अपने अन्दर सुख टटोलने के बजाय जब मानव-मन बाहर भटकता फिरता है तब सिवा भाग्यवाद और निराशावाद के दूसरा "वाद" आश्रय नहीं दे सकता, क्योंकि आशावाद का दूसरा नाम है "आत्मबल"।"[1]

इसी लेख में बच्चन की "निशा - निमंत्रण" को महादेवी और अन्य छायावादी रचनाकारों से बढ़चढ़कर आँका गया है -- "दुखियों के प्रति सहानुभूति की लहरायें जितनी अधिक मुझे बच्चन में दिखायी दी, उतनी खेद है कि छायावादी नहीं दिखला सके।"[2] स्पष्ट है कि छायावाद का अवमूल्यन, आत्म-बल पर आत्यंतिक जोर, सुख और आशा की आत्म केन्द्रित अवधारणा-इस लेख की ऐसी कमियाँ हैं, जिन पर अलग से टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं।

46-50 के बीच लिखे गये लेखों में पहले की तुलना में ज्यादा निखार और सफाई दिखायी देती है। इनमें से "धरती": एक समीक्षा,"

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खं 5, पृ0 281.
2. वही0 पृ0 281.

"सुभद्रा जी की लक्षणा का स्वरूप" और "सामाजिक विकास और साहित्य" लेख महत्व के हैं। अन्तिम लेख (लेखन काल-50) मुक्तिबोध की मार्क्सवादी मान्यताओं का स्पष्ट घोषणापत्र है। इसके पूर्व केवल दो अन्य लेख मिलते हैं जिन्हें इस कड़ी में जोड़ा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि "कामायनी : कुछ नये विचार" शीर्षक लेख इनके पूर्व "हंस" नवम्बर, 45 और जनवरी-फरवरी, 46 में क्रमशः छपे थे। इन लेखों से स्पष्ट होता है कि 45 के बाद की उनकी रचनाएँ मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रभाव में लिखी गयी हैं।

कालक्रमानुसार देखें तो "धरती" पर लिखी गयी उनकी समीक्षा सन् 46 की है। "धरती" की समीक्षा में मुक्तिबोध ने त्रिलोचन की जिन काव्य-प्रवृत्तियों को श्रेय दिये हैं, वे इतने सटीक हैं कि त्रिलोचन के समूचे काव्य संसार को समझने के लिए एक प्रकार से कुंजी का काम करते हैं। लिखते हैं कि "कवि की अपनी अनुभूतियाँ बहुत संयम के साथ प्रकट होती है। उसमें चीख पुकार या आलोड़न नहीं है। न वह चीज है जिसे आप अतृप्त वासना कह सकते हैं। इन सब दोषों से मुक्त विचारों और भावनाओं से आलोकित, काव्य मिलना कठिन है। साथ ही कवि की प्रगतिशीलता अट्टहासपूर्ण आंतरिक क्षतिपूर्ति के रूप में नहीं आयी है, बल्कि कवि के अपने जीवन-संघर्ष से मँज-घिस कर तैयार हुई है।"[1] इसीलिये त्रिलोचन में हल्की किस्म की उत्तेजन-प्रियता भी नहीं है, जिसमें भावना की गहराई, उसकी मन्थर निश्चयपूर्ण गति

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खं 5, पृ0 375.

न रहकर मात्र क्षणस्थायी उभार रहता है । कवि त्रिलोचन में इस सेंटिमेन्टैलिटी का लेश भी नहीं है, और न हमेशा इमेज के सहारे चलने की गहरी प्रवृत्ति, जो हमें गिरिजा कुमार माथुर में मिलती है ।"[1] "त्रिलोचन का संघर्ष इतना यथार्थ है कि उसमें सफलता की धीर गंभीर व्यक्तित्व की आवश्यकता है, जिसकी परिकल्पना की कसौटी पर वह अपने व्यक्तित्व को कसना चाहता है और अपने मन को उसके बारे में उपदेश दिया करता है, समझाता रहता है ।"[2] इसी प्रकार टेकनीक के बारे में लिखते हैं कि "वे प्राच्य क्लासिकल और पाश्चात्य प्रोज का समन्वय किया चाहते हैं ।"[3]

मुक्तिबोध ने काव्य में होने वाले छद्म पर बहुत विचार किया है ।[x] यहाँ पर केवल इतना जोड़ देना आवश्यक है कि उन्होंने त्रिलोचन के काव्य को मौलिक ईमानदारी का काव्य कहा है --"छद्म काव्य का सम्पूर्ण अभाव जिसमें हो, उसे ही मौलिक ईमानदारी कहना चाहिए ।"[4]

मुक्तिबोध की समीक्षा की खूबी यह है कि सबसे पहले वे किसी रचनाकार की काव्य-प्रवृत्ति की विशिष्टता को पकड़ते हैं । इसे ही रचना प्रक्रिया का विश्लेषण कहते रहे ।। फिर उन काव्य-प्रवृत्तियों

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 383.
2. वही0 पृ0 376.
3. वही0 पृ0 387.
4. वही0 पृ0 387.

x. देखें - अध्याय-3 ।.

के सहारे किसी रचना का अर्थ और मर्म समझने को चलते हैं, और सबसे अन्त में उस रचना पर मूल्य-निर्णय देते हैं । आलोचना की इस प्रक्रिया पर अमल करने की बात उन्होंने अपने कई लेखों में कही है । किंतु इस प्रसंग पर विस्तार से बात करना सम्प्रति हमारा लक्ष्य नहीं । इस प्रसंग को तीसरे अध्याय में विस्तार दिया जायेगा ।

"सुभद्रा जी की सफलता का रहस्य" शीर्षक 48 में लिखित मुक्तिबोध द्वारा लिखी गयी व्यावहारिक समीक्षा में शील का एक पत्थर है । अपने से नितान्त भिन्न प्रकृति की कवयित्री काव्य-प्रकृति और काव्य-प्रवृत्ति का इसमें बड़ा ही मनोरम और सूक्ष्म वर्णन मिलता है ।

राष्ट्रीय आन्दोलन ने समाज के अनेक वर्गों दलितों-पीड़ितों और स्त्रियों पर भिन्न भिन्न असर डाले । "व्यक्ति के धरातल पर आकर इन्हीं रूपों ने देश-भक्ति, वीरोत्साह, विश्वमानवता के प्रति आस्था के साथ साथ मनुष्य के परस्पर वास्तविक सम्बन्धों अर्थात् उसके व्यक्तिगत जीवन के प्रधान भावों का संगम करा दिया और इस प्रकार मानव-चेतना को ऐसे लोक के सिंहद्वार के सम्मुख उपस्थित कर दिया, जिनको खोलने के उपरांत मनुष्य अपने जीवन को स्पृहणीय परिस्थितियों में देखे और आंकेगा ।"[1]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 307.

जब जीवन नये अर्थ में आलोकित हुआ और मनुष्य ने इस सिंह-द्वार के अन्दर प्रवेश किया तो पारिवारिक और व्यक्तिगत जीवन में भी एक नूतन अर्थदीप्ति झलकी । सुभद्रा जी को छोड़कर कदाचित किसी अन्य रचनाकार ने पारिवारिक जीवन को इस नये संदर्भ मे अपने काव्य का विषय नहीं बनाया । मुक्तिबोध पूछते हैं कि "क्या कारण है कि किसी आधुनिक कवि के प्रणयगीतों में गार्हस्थिकता का संदर्भ और पारिवारिकता की भूमिका नहीं रही ?"[1] एक कवि की दूसरे कवि या शैली के बरक्स खड़ी करने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए भी उन्होंने लिखा "जीवन के साक्षात विविध-प्रसंगों की भूमिकाओं और उसके संदर्भों का आखिर त्याग क्यों ? क्या काव्य की युनिवर्सल अपील उससे खत्म होती है ? इतने बड़े हिन्दी काव्य में माँ के ऊपर, भाई के ऊपर, पिता के ऊपर एक भी कविता देखने को नहीं आती ।"[2] फिर आगे पूछते हैं कि इसका कारण क्या आज के कवियों की निविड़ आत्मबद्ध जीवन-दशाएं नहीं हैं.?

सुभद्रा जी की रचना-प्रकृति क्या है ? मुक्तिबोध के अनुसार "हमें स्थान-स्थान पर यह अनुभव होता है कि सुभद्रा जी अपने भावों को वैक्यूम में रखकर फिर उन पर कविताएं नहीं रचती थीं, बल वरन् उन ताजा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को सहज रूप में काव्य महत्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध कर देती थीं ।"[3] सुभद्रा जी के साहित्य में अपने

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 390.
2. वही0 पृ0 391.
3. वही0 पृ0 398.

DISS
O,152,3,N174:g
152M5
TH-1945

युग के मूल उद्वेग, उनके विभिन्न रूप अपनी आभरणहीन प्रकृत शैली में प्रकट हुए हैं।'[1] यहाँ वास्तविक जीवन के सुभद्रा जी के काव्य में माध्यमित और रूपांतरित होने की प्रक्रिया का बहुत ही वास्तव रेखांकन किया गया है।

किसी को भ्रम की गुंजाइश न रह जाय इसलिए चलते चलते यह भी लिख दिया कि 'सुभद्रा जी की पारिवारिक भावनाएँ कर्तव्याभिमुख हैं। परिवार शब्द यहाँ नागरिक शास्त्र के 'कुटुम्ब' शब्द का पर्यायवाची नहीं है। जो अपना सा हो जाय वही अपने परिवार का व्यक्ति।'[2] कहना न होगा कि सुभद्रा जी की रचना-प्रक्रिया, उसके सामाजिक संदर्भ और रचना का मूल्य सभी कुछ इस समीक्षा में बड़े सार्थक ढंग से संयोजित हो गये हैं। यह है हृदय के अनेक दाहों को समाप्त करने वाली सहानुभूतिपूर्ण सकारात्मक समीक्षा। सुभद्रा जी की रचनाओं में समस्यापूर्ण जटिल वास्तविकता का स्नेह-सम्पृक्त सरल-बोध या सरलीकरण मिलता है। यह उनकी सीमा और उपलब्धि दोनों हैं, और इसका कारण है उनकी रचना-प्रक्रिया क्योंकि वे अपने भावों को वैक्यूम में रखकर फिर उन पर कविताएं नहीं रचती थीं, वरन् उन ताजा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को सहज रूप में काव्य महत्त्व प्रदान कर उन्हें पद्य-बद्ध कर देती थीं' -- अर्थात उनके काव्य में 'ज्ञानात्मक संवेदन' की भूमिका गौण है।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 398.
2. वही० पृ० 393.

साहित्य और समाज के बीच क्या सम्बन्ध है -- इसका विवेचन इस दौर के अंत में लिखे गये लेख (सन 50) "सामाजिक विकास और साहित्य" में मिलता है । इस लेखमें यह प्रतिपादित किया गया है कि ह्रासकालीन समाज का साहित्य अनिवार्य रूप से ह्रासग्रस्त ही हो, ऐसा नहीं । किसी लेखक का साहित्य कैसे मूल्यों को प्रतिपादित करता है, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि वह अपने युग की कैसी शक्तियों से तादात्म्य स्थापित करता है । "साहित्य का समाज से सम्बन्ध यांत्रिक नहीं है ।.... तालस्ताय के उपन्यास अथवा ह्रासकालीन फ्रेंच पूँजीवादी मध्यवर्गीय समाज के अन्दर उगने और पनपने वाला रोम्यां रोलां का साहित्य ।..... किंतु उसी समाज में जब-जब लेखक ह्रासग्रस्त शोषक वर्ग की परिधि में रहकर कला का सृजन करता है तब उसकी कला स्वयं ह्रासग्रस्त हो जाती है । साहित्यिक ह्रास के सभी चिह्न उसमें मौजूद होते हैं । उदाहरण के लिये मार्सेल प्रूस का साहित्य ।'

उल्लेखनीय है कि साहित्य के विकास की यह धारणा आर्थिक नियतिवाद की कमियों से ग्रस्त है, जिसके शिकार क्रिस्टोफर काडवेल जैसे समर्थ मार्क्सवादी चिंतक तक हो गये थे ।

"समाज और साहित्य" लेख में उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की कि पतनशील जीवन मूल्यों के ऊपर वास्तविक परिप्रेक्ष्य न मिलने पर

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 393.

रचनाकार को किन दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। लिखते हैं कि फ्रांस के अत्यंत सम्पन्न उच्च वर्ग अथवा उसके प्रभाव में रहने वाले वर्ग की निरुपयोगिता अगर कुछ सृजन कर भी सकती है, तो वह मृत-सृष्टि है। इस गतिहीनता की भयानक वेदना से विकासोन्मुख है।..... उसका विषय मृत-सृजन की पीड़ा है।.... उसकी गति हीनता विकासी के लिये मर्मभेदी है, किंतु उसने उबर उठकर उसने गति-हीनता पर कोई परिप्रेक्ष्य नहीं अपनाया।"[1]

उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में इस पूंजीवादी समाज में मृत-सृजन की पीड़ा को ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर देखने की प्रयास किया। यही कारण है कि उनकी कविताएं ह्रासग्रस्तता का चित्रण करते हुए भी उसी में डूबी नहीं जातीं, बल्कि उस पूरे परिप्रेक्ष्य को रेखांकित करते हुए भविष्य की ओर भी संकेत करती हैं। वे ह्रास-ग्रस्तता को शाश्वत और परिवर्तनीय न मानकर, उसे "आधुनिक मध्यता-संकट" की प्रतीक रेखा कहते हैं --

---वह पागल युवती सोयी है
मैली दरिद्र स्त्री अस्त-व्यस्त-
उसके बिखरे हैं बाल बस्तन लटका सा
अनगिनत वासनाग्रस्तों का मन अटका सा।
उनमें जो उच्छृंखल था, विशृंखल भी था
उसने काले पन में स्त्री को गर्भ दिया।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 41.

शोषित और व्यभिचारित आत्मा को पुत्र हुआ
स्तन में मुह डाल भरा बालक । उसकी छाई,
अब तक लेटी है पास उसी की परछाई ।।
आधुनिक सभ्यता संकट की प्रतीक रेखा,
उसको मैंने सपनों में कई बार देखा ।।
जीने के पहले मरे समस्याओं के हल ।।

सन् 50 के बाद का दौर मुक्तिबोध के लेखन का सर्वोत्तम काल है । इसी दौरान उन्होंने अपनी अधिकांश महत्वपूर्ण रचनाएँ लिखी । "एक साहित्यिक की डायरी", जो उनकी प्रौढ़तम गद्य रचनाओं में से एक है, इसी समय लिखी गयी । स्वतंत्र पुस्तक के रूप में कामायनी पर किताब इसी समय लिखी गयी । लगभग 45 आलोचनात्मक लेख इसी काल में लिखे गये । इस सारी सामग्री पर अगले दो अध्यायों में स्वतंत्र रूप से विचार किया जायेगा । इसी क्रम में हम यह भी देखते चलेंगे कि मुक्तिबोध के इस समय के आलोचनात्मक लेखन का स्तर अपने पूर्ववर्ती लेखन से किन अर्थों में भिन्न या समान है ।

======

द्वितीय अध्याय

परम्परा के मूल्यांकन का प्रसंग : छायावाद और भक्ति-काल

परम्परा का मूल्यांकन लम्बे अर्से से विवाद का मुद्दा रहा है । केवल मार्क्सवादियों और गैर मार्क्सवादियों के बीच ही नहीं, स्वयं मार्क्सवादी चिंतकों के बीच भी इस मुद्दे को लेकर गंभीर मतभेद रहे हैं । परम्परा को किन अर्थों में ग्रहण किया जाय, परम्परा और वर्तमान के बीच क्या और कैसे सम्बन्ध बनाये जाँय -- इन सब बातों को लेकर लम्बे विवाद हुए हैं ।

वैसे तो मुक्तिबोध के खालिस सैद्धान्तिक से लगने वाले लेख भी किन्हीं नकिन्हीं व्यावहारिक समस्याओं के ठोस संदर्भ में लिखे गये हैं, और ठेठ अर्थों में वे सैद्धान्तिक लेख नहीं हैं । परम्परा के मूल्यांकन के लिहाज से "कामायनी ": एक पुनर्विचार" पुस्तक, "भक्ति आंदोलन : एक पहलू" (सन् 55) तथा "सुमित्रा नंदन पंत : एक विश्लेषण" (सन 60) नामक लेख महत्वपूर्ण हैं । भले ही मुक्तिबोध ने परम्परा के मूल्यांकन को लेकर कोई स्वतंत्र लेख, न लिखा हो, इन उपर्युक्त लेखों में

उनकी प्रकट या अप्रकट जो दृष्टि प्रतिफलित होती है, वह क्या की है, उसका विश्लेषण अपेक्षित है । इनके विवेचन से यह भी पता लग जायेगा कि सन् 50 के बाद लिखे गये लेख अपेक्षाकृत ज्यादा गहराई लिये हुए हैं और इसी अर्थ में पहले के लेखों की तुलना में ज्यादा उन्नत स्तर के हैं । इस अध्याय में केवल उन्हीं लेखों को चुना गया है, जिनका किसी न किसी रूप में परम्परा के मूल्यांकन से सम्बन्ध बनता है । साथ ही, इन रचनाओं में निहित ऐसे प्रसंगों को जिनका परम्परा के मूल्यांकन से सीधा सरोकार नहीं है, अगले अध्याय के लिये छोड़ दिया गया है ।

(1) कामायनी का पुनर्मूल्यांकन --

सबसे पहले कामायनी का प्रसंग उल्लेखनीय है कि कामायनी पर अनेक लोगों ने विचार किया है, लेकिन हम अपने को खास तौर से मार्क्सवादी समीक्षकों द्वारा किये गये विवेचन तक सीमित रखते हैं ।

: TO राम विलास शर्मा के अनुसार "प्रसाद जी के दर्शन का आधार ज्ञान और क्रिया की एकता है । उनका ज्ञान निष्क्रिय नहीं है । वह मनुष्य को उचित कर्म मार्ग की ओर प्रेरित करता है । इस कर्ममार्ग का उद्देश्य ऐसे जीवन की प्राप्ति है, जो वर्गों में विभक्त न हो, जिसमें कोई भी मनुष्य अभिशप्त होकर दुखी रहने को बाध्य न हो । ..... प्रसाद जी की शैली में बड़ी सादगी है । इस सादगी का कारण

उनके विचारों की गहराई को पहचान पाना बहुत कठिन होता है। वे एक वर्गहीन साम्य-युक्त साम्य-व्यवस्था के समर्थक थे, इसका स्पष्ट संकेत उनकी रचनाओं में मिलता है। उनका सामाजिक दृष्टिकोण उनके दार्शनिक विचारों का पूरक है। उनका आदर्श यह था --

शापित न यहाँ कोई
तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है
सम रस है जो कि जहाँ है।

उनके दार्शनिक विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे धरती को छोड़कर कल्पना के आकाश में उड़ान नहीं भरते।[1]

इसी प्रकार "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना" में शर्मा जी लिखते हैं कि "प्रसाद जी ने एक खास तरह के ज्ञान, एक खास तरह के कर्म का विरोध किया है। वह ज्ञान और कर्म का समन्वय चाहते हैं और यह समन्वय लोक-कल्याण की भूमि पर होता है।"[2]

शर्मा जी ने लिखा कि प्रसाद की शैली में बड़ी सादगी है, मुक्तिबोध के अनुसार वह फैंटेसी मूलक है, जिसमें भाव पक्ष प्रधान है,

---

1. भाषा युग बोध और कविता, दिल्ली, सन् 81, पृ० 127.
2. रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, आगरा, सन् 59, पृ० 193.

विभाव पक्ष गौण .... भाव भी सीधे-सीधे नहीं व्यक्त हुआ है ।[1] लेकिन जहाँ तक विचारों की गहराई को पहचान पाने मे आने वाली मुश्किलों का सवाल है, मुक्तिबोध, शर्मा जी से सहमत होंगे । क्योंकि विचारों की गहराई को पहचान पाना बड़ा मुश्किल होता है । और तब तो और भी जब कलाकृति का कलात्मक सौंदर्य - प्रभाव अभिभूत करने वाला हो । मुक्तिबोध के अनुसार कामायनी के मूल्यांकन में अनेक समर्थ आलोचक इसलिये चूक जाते हैं क्योंकि वे कलात्मक प्रभाव को भेदकर उसके अन्तर्तत्व तक पहुँच ही नहीं पाते । इसलिये कामायनी के स्वरूप को समझने के लिये उसके भव्यकलात्मकताजन्य प्रभाव से निकलना अत्यावश्यक है ।[2] नहीं तो नयी समीक्षा वालों की शब्दावली में "प्रभाव परक हेत्वाभास" तक ही हमारी समीक्षा सीमित हो जायगी । कहने की आवश्यकता नहीं कि कलात्मक सौंदर्य प्रभावशाली हो तो स्वतः यह न मान लेना चाहिए कि वस्तु प्रगतिशील होगी ही । यह अभीष्ट स्थिति है, एक मात्र स्थिति नहीं । कला और अन्तर्वस्तु की तनावपूर्ण और विरोधी स्थिति भी संभव है । जैसा कि माओत्से तुंग ने लिखा है कि "जिन रचनाओं की विषयवस्तु जितनी ही प्रतिक्रियावादी होती है, और जिनकी कलात्मक प्रतिभा जितनी ही ऊँची होती है, वे जनता के लिये उतनी ही अधिक ज़हरीली होती है और इस बात की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है कि उन्हे ठुकरा दिया जाय ।"[3]

---

1. देखें अध्याय - 5.
2. मुक्तिबोध रचनावली (पेपरबैक) खंड 4, पृ0 325 - 26.
3. संकलित रचनावली, खंड 4, प्रकाशित, पृ0 157.

जाहिर है कि कामायनी ऐसी रचना न थी कि उसे ठुकरा दिया जाय, लेकिन जैसा कि मुक्तिबोध ने स्वयं लिखा है कि "प्रसाद जी की "कामायनी" रसवादी, छायावादी, पुराण पंथियों के हाथ में नवीन प्रगतिशील शक्तियों के विरुद्ध एक अस्त्र बन गयी । भाववादी आलोचकों ने प्रसाद जी से आगे बढ़कर "कामायनी" का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया, और उसके उपयोगी तत्वों को प्रच्छन्न कर दिया । उन्होंने कामायनी के सम्बन्ध में हर तरह के ऊँचे किस्म की गलत फहमियाँ फैलाईं ।"[1] इस प्रसंग में मुक्तिबोध ने नन्द दुलारे बाजपेई, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि विद्वानों का "पुण्य स्मरण किया है ।

तो इस प्रकार कामायनी के मूल्यांकन को लेकर लगभग दो छोर बनाये दीखते हैं । एक है पुराण पंथियों का, और दूसरा ऐसे मार्क्स-वादियों का जो प्रसाद जी के यहाँ ज्ञान और कर्म का समन्वय लोक-कल्याण की भूमि पर देख रहे थे, उनके दार्शनिक विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह बतला रहे थे कि वे धरती को छोड़कर कल्पना के आकाश में उड़ान नहीं भरते, और अन्ततः उन्हें वर्गहीन साम्यवादी व्यवस्था का समर्थक घोषित कर रहे थे । यह वही स्थिति है, जिसकी ओर 'आलोचना' के अक्तूबर-दिसम्बर (सन् 83) अंक में इस प्रकार टिप्पणी की गयी है : "प्रासंगिक क्या वही है जो हमारे विचारों का अनुमोदन करता है और आप के अनुकूल है ? जो आप से भिन्न है और हमें चुनौती देता है, वह प्रासंगिक क्यों नहीं ?"[2] प्रासंगिकता के उन्माद में "असुविधाजनक असंगतियों को या तो एकदम क्षेपक कहकर खारिज कर

---

1. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृ0 108.
2. आलोचना, अक्तूबर - दिसम्बर, 83/5, दिल्ली .

दिया जाता है अथवा उन्हें एकदम गौण मानकर उपेक्षणीय । यह विवशता संभवत: रूढ़िवादी प्रतिक्रिया के कारण है । यही नहीं, अतीत के लेखकों को प्रासंगिक सिद्ध करने की चिंताएँ या तो वर्तमान से उनके पार्थक्य को कम करके बताया जाता है या फिर इस अंतर को एकदम ही भुला दिया जाता है । इस प्रक्रिया में होता यह है कि प्रगतिशील परम्परा की एक अटूट अविच्छिन्न धारा तो बन जाती है, किंतु कुछ समान प्रगतिशील तत्वों के कारण अतीत के प्राय: सभी महान लेखक एकरूप से दिखायी पड़ते हैं -- यहाँ तक कि उनके चेहरे की निजी विशिष्टता भी खो जाती है । इस प्रकार मोटी तौर पर यह प्रगतिवादी रणनीति भले ही कारगर प्रतीत हो, किंतु अन्तत: यह आश्चर्यजनक एकरूपता ही उसे संदिग्ध बना देती है ।..... यदि ब्रेख्त के "अलगाव प्रभाव" को आलोचना के क्षेत्र में लागू करें तो अतीत की कृतियों को आज के लिये प्रासंगिक बनाने का सबसे वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ ढंग यह है कि अपने और उसके बीच की दूरी को सुरक्षित रखा जाय और इसप्रकार पाठकों में उस आलोचनात्मक विवेक को जाग्रत रखा जाय, जिससे वे अतीत की महान से महान कृति के अपने अन्तर्विरोधों के प्रति सजग रहें । दूरी अथवा अलगाव का विलोम पुराना तादात्म्य-सिद्धान्त है, जिसमें भ्रम का खतरा है । अतीत की किसी कृति के साथ पूर्णत: तादात्म्य स्थापित करने के लिये उसकी ऐतिहासिकता को तो मिटाया ही जाता है, अक्सर उसके अन्तर्विरोधों को भी खत्म करना पड़ता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रक्रिया में प्राचीन कृति थोड़ी देर के लिये नितांत समकालीन भले ही हो जाय, किंतु अंतत: उसकी अपनी अस्मिता तो नष्ट होती ही है, हम भी अपनी अस्मिता के लिये

खतरा मोल लेते हैं ।"[1]

उपर्युक्त टिप्पणी के संदर्भ में मुक्तिबोध द्वारा किये गये कामायनी के मूल्यांकन को देखें, तब उनका महत्व समझ में आता है । मुक्तिबोध के विवेचन में कामायनी को अपने अनुकूल ढाल लेने का प्रयास नहीं है, यद्यपि यह उनकी बड़ी प्रिय रचना है ।। नहीं विचारधारात्मक पक्ष को गौण मानकर उसकी उपेक्षा की गयी है । भाव-बोध, इन्द्रिय-बोध और विचारधारा - सभी को समग्रता में लेते हुए वे पूरी कलाकृति को अपने मूल्यांकन का विषय बनाते हैं..... और इस प्रक्रिया में कृति को बरकरार रखते हुए पाठक में रचना केसमस्त अन्तर्विरोधों के प्रति एक आलोचनात्मक विवेक जाग्रत करते हैं । कामायनी को प्रासंगिक घोषित करने के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह हूबहू उनके समय की जरूरतों के अनुकूल हो ही । क्यों कि हम केवल सफलता से ही नहीं सीखते, असफलता से भी सीखते हैं ।..... और कभी-कभी असफलताएँ भी बड़ी भव्य होती हैं । ऐसी ही भव्य असफलता मुक्तिबोध के "ब्रह्मराक्षस" की भी है, किंतु यह छोटी-मोटी तुच्छ सफलताओं से बढ़कर है, इसीलिये वे "ब्रह्मराक्षस" के "सफल-उर-शिष्य" होना चाहते हैं, ताकि उसके अधूरे कामों को पूरा कर सकें । कहना न होगा कि प्रसाद की असफलता भी, मुक्तिबोध की दृष्टि में, विराट और भव्य है । मुक्तिबोध ने लिखा है कि प्रसाद जी दुनिया के महान मानवतावादी लेखकों - तोल्स्तॉय आदि की पाँत में पहुँचते पहुँचते रह गये । तोल्स्तॉय के उपन्यास के नायक "प्रिंस नरव्लूदोव" और

---

1. आलोचना, अक्तूबर - दिसम्बर, 83/6, दिल्ली .

के चरित्र को आमने-सामने रखकर यह महसूस किया जा सकता है कि ऐसा क्यों हुआ ।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि परम्परा को नितांत सामयिक संदर्भों में इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति के तहत किया गया मूल्यांकन एक निकृष्ट कोटि के उपयोगितावादी निःशेषीकरण के खतरे से बच नहीं सकता । यह प्रवृत्ति अपने आत्यंतिक उपयोगितावादी आग्रह के कारण न केवल अमानवीय है, बल्कि एकांगी भी है, और इतिहास का केवल सरलीकृत बोध प्रदान करती है ।

मुक्तिबोध ने मनु के चरित्र में निहित असंगतियों और उसके प्रगति - विरोधी स्वरूप को खुलासा तो किया ही, साथ ही यह भी दिखलाया कि प्रसाद जी के सामञ्जस्य सिद्धान्त की ढोल पोल क्या है । इसी प्रकार उन्होंने श्रद्धावाद की वास्तविक परिणति भी रेखांकित कर दी, लिखा कि "श्रद्धावाद यह उद्घाटित करता है कि भाववाद-आदर्शवाद अंततः किस प्रकार प्रस्तुत पूँजीवादी विषमताओं के लिये क्षमाप्रार्थी होकर उसे नसीहत देता है और उन्हीं से समझौता कर लेता है । वह वस्तुतः अपने अंतर्विरोधों से ग्रस्त पूँजीवाद का डिफेंस है, और कुछ नहीं ।"[2] निष्कर्ष यह कि "प्रसाद जी की आत्मा ने भोगा तो वास्तविक जीवन, खोज की वास्तविक जीवन की, चिंतन

---

1. मुक्तिबोध रचनावली (पेपरबैक) खंड 5, पृ0 279-301.
2. कामायनी एक अध्ययन, पृ0 120.

किया वास्तविक जीवन का, किंतु निष्कर्ष रूप में, निदान और समाधान के रूप में पाया क्या ? आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक भाववादी रहस्यवाद । यह ऐतिहासिक सामाजिक समस्याओं का ऐतिहासिक सामाजिक हल नहीं हुआ ।"[1] इसके नतीजा यह निकलाकि प्रसाद जी प्रसाद जीवनानुभव में अपनी रचना-शीलता रचना के सहज तर्क के सहारे जिस सीमा तक उनके दार्शनिक आग्रहों से बच सकी, वेा उनकी उपलब्धि है, लेकिन जिस हद तक दर्शन उनकी रचनाशीलता पर हावी हो गया, वो उनकी सीमा है । मुक्तिबोध के विवेचन को अपने शब्दों में संक्षिप्त करते हुए डा० मैनेजर पांडेय के शब्द इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं । पांडेय जी के अनुसार " प्रसाद जी को आधुनिक पूँजीवादी भारतीय समाज-व्यवस्था की वास्तविकता का बोध था, उसकी विकृतियों और समस्याओं का ज्ञान था, उनसे जुड़े प्रश्नों की पहचान भी थी, लेकिन यह सब सहज भावना और विवेक के कारण संभव हुआ था, किसी वैज्ञानिक विश्वदृष्टि के कारण नहीं, इसलिये इनका समाधान नितांत काल्पनिक, आध्यात्मिक और रहस्यवादी रूप में सामने आया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है । यथार्थ-बोध सच्चा, जीवन मूल्य भ्रामक, और विश्वदृष्टि गलत यही कामायनी की रचनादृष्टि की दैविडी है । क्या टी० एस० इलियट की रचना "वेस्टलैंड" लगभग ऐसी ही दैविडी का शिकार नहीं हुई है ?"[2]

कामायनी के द्वन्द्व को ऐतिहासिक भौतिकवाद मान बैठने का या वर्गविषम्य-भेद वगैरह के प्रसंगों में समाजवाद का अनुसरण सुनने वालों

---

1. कामायनी एक पुनर्विचार, पृ० 164.
2. मुक्तिबोध, सम्पादक - निर्मलशर्मा, पृ०.111.

के लिये यह समीक्षा थोड़ी खटकती है और लगता है कि इसमें कामायनी की निंदा ही निंदा है, और कुछ नहीं । लेकिन मुक्तिबोध के अनुसार " (1) वर्गभेद का विरोध और उसकी भर्त्सना, अहंकार की निंदा यह प्रसाद जी की प्रगतिशील प्रवृत्ति है । (2) शासक वर्ग की जन-विरोधी आतंकवादी, नीतियों की तीव्र भर्त्सना ..... यह भी प्रगतिशील प्रवृत्ति है ।"[1] "इड़ा" सर्ग की शापवाणी के बारे में मुक्तिबोध का विचार है कि "यह शापवाणी 1953 की वास्तविकताओं को भी ठीक चित्रित करती है -- सिवाय एक बात के । नई ऐतिहासिक शक्ति सम्पन्न विकासमान श्रमिक वर्ग की बलबुद्धि और आत्मविश्वासमयी क्रांतिकारी प्रवृत्ति को वे न देख सके ।"[2] वस्तुतः प्रसाद जी की क्षमता तथा सफलता इस बात में है कि उन्होंने पूँजीवादी ह्रासग्रस्त सभ्यता के भीतर व्यक्ति के भीतरी विकेन्द्रीकरण का प्रश्न बड़े जोर से उठाया । प्रसाद जी इस बात को जानते थे कि ई शोषण प्रधान पूँजीवादी ह्रास-ग्रस्तता की व्यक्तिवादी मनोवृत्तियाँ व्यक्ति के भीतर विघटन, एकांगी विकास, अर्थात असामंजस्य और विकेन्द्रीकरण को जन्म देती और बढ़ाती है ।[3] संक्षेप में इस फैंटेसी (कामायनी) के रूपकार में सामंतवाद के ध्वंस से लगाकर, नये व्यक्तिवाद के जन्म और पूँजीवाद के रुग्ण बालक के बाधाग्रस्त विकास की अवस्थाओं और चिंताओं, विषमताओं और विभेद, तथा पूँजीवाद की सम्पूर्ण ह्रासग्रस्त अवस्था (तक) को प्रतीकात्मक पद्धति से गूँथ दिया गया है । कामायनी भारतीय औपनिवेशिक

---

1. मुक्तिबोध रचनावली (पेपर बैक) खंड 4, पृ0 291.
2. वही0 पृ0 291.
3. वही0 पृ0 294.

रुग्ण बाधाग्रस्त पूँजीवाद की कथा, उसके आक्रामक उग्र अहंग्रस्त व्यक्तिवाद का प्रतीकात्मक चित्र है । ह्रासग्रस्त विश्वपूँजीवाद के भीतर भारतीय औपनिवेशिक कुंठग्रस्त पूँजीवाद के सामंती प्रभाव-छायाग्रस्त उग्र व्यक्तिवाद का, कामायनी एक आत्म चरित्र कही जा सकती है । कामायनी की महत्ता यही है कि प्रसाद जी उसे कर सके, चाहे हम उनके मतों से टेकनीक से, दर्शन से सहमत हों या न हों ।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि मुक्तिबोध ने कामायनी की केवल निंदा ही नहीं की; उनके अनुसार तो "कामायनी" का दोष यह है कि जीवन-समस्या में जिस स्तर और क्षेत्र की हों, उस स्तर और उस क्षेत्र का उसका दार्शनिक समाधान नहीं है ।"[2] हाँ यह जरूर है कि उनकी आलोचना भावबोध, इन्द्रियबोध और विचारधारा इन तीनों के विरोधी - अविरोधी सम्बन्धों को समग्रता में लेते हुए विचार करती है । उनके यहाँ न तो इतिहास बोध का निषेध है और न रचना का सरलीकृत अनुकूलित ग्रहण, बल्कि रचना अपनी पूर्णता और ऐतिहासिकता में अपने सारे भीतरी अन्तर्विरोधों के साथ खुलती है । जैसा कि डा० मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि "मुक्तिबोध की यह आलोचना उस आलोचना से भिन्न है जो या तो प्रशंसापरक होती है, या निंदापरक । कुछ आलोचक किसी रचना का विरोध करने के लिये कभी रचनाकार की विचारधारा पर ध्यान देते हैं, रचना में व्यक्त यथार्थबोध, जीवन-मूल्य और कलात्मक सौंदर्य की उपेक्षा करते हैं और कभी अपने प्रिय रचनाकारों के यथार्थबोध और कलात्मक सौंदर्य को ही देखते हैं, उनकी

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, (पेपर बैक) खंड 4, पृ० 300.

2. वही० खंड 5, पृ० 470.

विचारधारा की उपेक्षा कर देते हैं। ऐसे आलोचक रचनाओं और रचनाकारों के लिये कभी संदर्भ सहित और कभी संदर्भ रहित कुछ उद्धरणों के आधार पर मूल्य-निर्णय करते रहते हैं। ऐसे निर्णयवादी आलोचक कभी वस्तु की आलोचना करते हैं तो कभी रूप की, कभी विचारधारा की उपेक्षा करते हैं तो कभी विचारधारा के आधार पर रचना को खारिज कर देते हैं। मुक्तिबोध ने कामायनी के रचनाकार के व्यक्तित्व, यथार्थबोध, जीवनमूल्य और विश्वदृष्टि की समीक्षा करते हुए उसके यथार्थबोध की प्रशंसा की है, लेकिन जन विरोधी, प्रगतिविरोधी और आध्यात्मिक जीवन-मूल्य तथा विश्वदृष्टि की कड़ी आलोचना की है।[1]

कामायनी के मूल्यांकन का यह तरीका परम्परा के मूल्यांकन की उस रीति से भिन्न है, जो परम्परा को खींचतान कर सर्वदा अपने अनुकूल बनाने पर तुली रहती है। वस्तुत: "परम्परा में सब सार्थक उपयोगी और प्रगतिशील ही नहीं होता, उसमें बहुत कुछ निरर्थक, अनुपयोगी और प्रगतिविरोधी भी होता है। यह विवेक हमें परम्परा की उपेक्षा करने से नहीं, उसके साक्षात्कार से ही प्राप्त हो सकता है। मुक्तिबोध ने कामायनी के मूल्यांकन का जो प्रयास किया है उससे यह सिद्ध होता है कि हमें परम्परा से टकराना चाहिए, उसकी चुनौती को स्वीकार करना चाहिए, तभी हम उसका विवेकपूर्ण मूल्यांकन करते हुए साहित्य और समाज के भावी विकास के लिये परम्परा के सार्थक तत्वों का उपयोग कर सकते हैं।"[2]

---

1. मुक्तिबोध - सम्पादक, निर्मल शर्मा, पृ0 113.
2. वही0 पृ0 113, लेख मैनेजर पाण्डेय।

मुक्तिबोध कूल कामायनी के मूल्यांकन के सिलसिले में यह सवाल उठाया गया है कि "वास्तव में जयशंकर प्रसाद और कामायनी के प्रति मुक्तिबोध के मन में द्वैत-भाव है और यह द्वैत भाव उनकी मनोरचना की जड़ में है।[1] क्योंकि "कामायनी के दर्शन को उन्होंने प्रतिक्रियावादी कहा और उसे निर्दोष भी बताया।[2] लेखक का विचार है कि "कामायनी: एक पुनर्विचार" मुक्तिबोध का अंतिम दस्तावेज नहीं है, अंतिम दस्तावेज है 1964 में उर्वशी-विवाद प्रसंग में लिखी गयी टिप्पणी। टिप्पणी इस प्रकार है -- "उस दर्शन में, उस दर्शन के चित्रण में कोई दोष नहीं है। उसमें आडम्बर नहीं है, उसमें दार्शनिक दंभ नहीं है। और बहुत से स्थानों पर आधुनिक सभ्यता की कुछ मूल-विषमताओं पर कठोर और प्रखर काव्यात्मक आक्रमण है। संक्षेप में प्रसाद जी की दार्शनिक अनुभूति उनकी भावना के मेल में है।"[3] इसके आगे लिखते हैं कि प्रसाद जी की कामायनी का दोष यह नहीं है कि उसमें दार्शनिकता प्रधान है। दोष यह है कि जीवन समस्यायें जिस स्तर और क्षेत्र की हैं, उस स्तर और उस क्षेत्र का उनका दार्शनिक समाधान नहीं है। उनकी दूसरी कमजोरियों पर प्रकाश डालने का यहाँ अवकाश नहीं है।"[4]

वस्तुत: इस पूरे वक्तव्य को प्रसंग से काटकर नहीं समझा जा सकता है। उल्लेखनीय है कि मुक्तिबोध ने भगवतशरण उपाध्याय द्वारा

---

1. राम विलास शर्मा - नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ0 167.
2. वही0 पृ0 167.
3. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 470.
4. वही0 पृ0 470.

दर्शन और काव्य के विषय में प्रकट की गयी मान्यताओं का विरोध किया था और लिखा था कि "वे मान्यताएं गलत हैं क्योंकि "वे दर्शन और कला इन दोनों को परस्पर पृथक परस्पर असम्पृक्त श्रेणियों में बाँटकर चलती हैं और इन दोनों के बीच पारस्परिक प्रभाव के तथ्य को दृष्टि से ओझल करती हैं।"[1] इसीलिये उन्होंने लिखा कि प्रसाद जी की दार्शनिक अनुभूति उनकी "भावना के नेत्र" हैं। कामायनी का दोष उसकी दर्शन-प्रधानता नहीं, बल्कि वह है कि जीवन समस्यायें जिस स्तर और क्षेत्र की हैं उस स्तर और क्षेत्र का दार्शनिक समाधाननहीं। ध्यातव्य है कि कामायनी के दर्शन की "तारीफ" यहाँ उर्वशी के दर्शन के प्रसंग में की गयी है, जिसके लिये मुक्तिबोध ने लिखा कि "अतिशय कामात्मक अहं अपनी औचित्य-स्थापना के लिये दर्शन का सहारा ले रहा है। इस प्रकार वह दार्शनिक भावक्रम वस्तुत: औचित्य-स्थापना का मनोविज्ञान है।"[2] "उर्वशी का दर्शन वस्तुत: कामात्मक संवेदनाओं की आध्यात्मिक परिणति के द्योतन के लिये उपस्थित एक दार्शनिक आडम्बर है। वह कामात्मक अहं की गतिविधियों की औचित्य-स्थापना का प्रयास है। भगवत शरण जी कहते हैं कि वह अप्रासंगिक है। वह अप्रासंगिक नहीं पूर्णत: प्रासंगिक है। वह ऐश्वर्यवान सम्पन्न श्रेणी की अनर्गल काम स्पृहाओं को आध्यात्मिक औचित्य प्रदान करना चाहता है।"[3]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 468.
2. वही0, पृ0 468.
3. वही0, पृ0 470.

मुक्तिबोध ने कामायनी के दर्शन को उपस्थित की गयी जीवन समस्याओं की तुलना में हेय बताया, और उसकी के दर्शन को कथ्य के अनुकूल । क्या इसका कोई मतलब नहीं? फिर बहुत से स्थानों पर कामायनी का आलोचनात्मक स्वर बहुत सार्थक है -- इसका यह मतलब नहीं कि सब जगह सार्थक है.... और यह भी लिख दिया कि "उसकी दूसरी कमजोरियों पर प्रकाश डालने का यहाँ अवकाश नहीं"..... इसका भी कुछ अर्थ होता है ।

स्पष्ट है कि मुक्तिबोध ने कामायनी के दर्शन और प्रसाद की ईमानदारी कोशिश की तारीफ इस संक्षेप प्रसंग में की है । कामायनी के बारे में उनके द्वारा प्रकट किये गये विचारों में वैसी असंगति नहीं, जैसी कुछ मुग्ध लोग समझते हैं । असंगति लेखन शैली में जरूर है, इसलिये मुक्तिबोध पर विचार करते समय पूरे संदर्भ को ध्यान में रखे बिना न्याय नहीं किया जा सकता ।

कामायनी की व्याख्या विभिन्न दृष्टियों से की गयी है । अपने संस्कारों और आग्रहों के अनुसार इसके किस्म-किस्म के अर्थ लगाये गये हैं । हमारा उद्देश्य ऐसे सभी प्रयासों की पड़ताल करना नहीं, फिर भी संक्षेप में एक ऐसे वक्तव्य पर विचार करेंगे, जो इस तरह की समस्याओं को संक्षेपतः सार रूप में प्रस्तुत करता है ।

दिनेश्वर प्रसाद लिखते हैं कि "यह [कामायनी] एक व्यक्ति की कथा है और सभी मानव व्यक्तियों की, यह एक युग की कथा है,

और सब युगों की भी । इसका अर्थ वर्तमान में ही निःशेष नहीं होता क्योंकि इसके पात्र और परिस्थितियाँ प्रतीकात्मक ही नहीं प्रस्तावात्मक भी हो गये हैं । यही कारण है कि कामायनी कई पृथक-पृथक अर्थ संबंधों की रचना करती है । इन अर्थगत सम्बन्धों का सरलीकरण कर दिये जाने पर किसी एक (जैसे -- आत्मकथात्मक, व्यक्ति-मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक या शैवागामी) अभिप्राय को प्रधान अथवा एकांतिक सिद्ध किया जा सकता है, किंतु इसी प्रवृत्ति से अनेक स्वतंत्र अर्थों का निष्क्रमण भी संभव है । यह उसकी व्याख्या विशेष के वास्तविक या प्रधान होने के आग्रहों में देखा जा सकता है । किंतु इसके अधिक अर्थ-सम्बन्धों को देखते हुए यह अपेक्षा व्यर्थ है कि कामायनी के एक अर्थ का अन्वेषण संभव हो सकेगा ।"।

स्मरणीय है कि डा० दिनेश्वर प्रसाद मुक्तिबोध द्वारा की गयी कामायनी की व्याख्या से असहमत नहीं हैं, किंतु उनकी आपत्ति यह है कि कामायनी की रच-रचना को देखते हुए किसी एक ही अर्थ का आग्रह ज्यादती तो है ही, संगत भी नहीं है, क्योंकि यह एक ही व्यक्ति या युग की रचना नहीं, सभी व्यक्तियों और युगों की कथा है, इसके पात्र और परिस्थितियाँ प्रतीकात्मक ही नहीं, प्रस्तावात्मक भी हैं । इसलिये इन अर्थगत सम्बन्धों का किसी एक अर्थ में सरलीकरण रचना के साथ अन्याय होगा क्योंकि रचना के कई अर्थ-स्तर हैं । जैसे डा० दिनेश्वर

---

1. काव्य रचना प्रक्रिया (सम्पादक) कुमार विमल, पृ० 126.

प्रसाद जैसे "जनवादी" तो नहीं हैं, जो रचना के वस्तुगत अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं और रचनाधर्मी आलोचना को "मेटाफिजिक्स ऑफ टेक्स्ट" का शिकार बताते हैं, जिनके लिये अर्थ रचना में नहीं पाठक में निहित होता है, जो किसी भी चीज को आलोचनात्मक नजरियों से देखने की बेलेज लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं, फिर भी उनकी "जनवादी दृष्टि" किसी रचना या परिघटना को एक ही अर्थ के खूँटे से बाँध देने की प्रवृत्ति की विरोधी है। और मजा यह कि ऐसा किसी आग्रह विशेष के कारण नहीं कर रहे, वे तो बस कामायनी में निहित विभिन्न अर्थ-संभावनाओं की वस्तुनिष्ठता को रेखांकित कर रहे हैं। इस दृष्टि से डी टिनेश्वर प्रसाद पाठक केन्द्रित अर्थ-ग्रहणवादी । आलोचकों से थोड़ा ही भिन्न हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि वहाँ अर्थ-ग्रहणवादियों को ।

यह आलोचनात्मक स्वतंत्रता पाठक मुहैया करता है, डा० टिनेश्वर प्रसाद पाठक को फालतू में तंग करना उचित ने मान रचना में ही अर्थों की परत-दर-परत खोलते हुए घर बैठे जनतंत्र का मजा लूटते हैं। जब अर्थांतर रूपी कस्तूरी रचना रूपी कुंडल में ही मौजूद हो तो पाठक रूपी वन में भटकने से फायदा भी क्या। डा० टिनेश्वर प्रसाद के लिये रचना का वह वस्तुगत ऐतिहासिक संदर्भ महत्वपूर्ण नहीं, जिसमें रचना अपना अर्थ पा रही है, और न उन सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भों को पहचानने का प्रयास है, जिसमें रचना संभव हुई। महत्वपूर्ण है आत्मनिष्ठ जनतांत्रिक अनेकांत की स्वतंत्रता, जो वस्तुतः छद्म स्वतंत्रता है।

जबकि मुक्तिबोध के लिये रचना भी महत्वपूर्ण है और उसका वर्तमान में ग्रहण किया जाने वाला अर्थ भी। उत्साही मार्क्सवादियों की तरह वे रचना को अपनी सामयिक जरूरतों के अनुसार निःशेष नहीं करते। नही रचनावादियों की कथित वस्तुनिष्ठता के प्रति पूजाभाव प्रदर्शित कर पाते हैं। यही कारण है कि वैज्ञानिक इतिहास-बोध का इस्तेमाल करते हुए वे उसका वही अर्थ ग्रहण करते हैं जो संगत और इतिहास विवेक-सम्मत है, न कि वह जो प्रसाद जी या दूसरे चाहते हैं। शायद इस प्रसंग का किंचित स्पष्टीकरण आवश्यक है।

उल्लेखनीय है कि तुलसीदास की "विनय पत्रिका" इस लिहाज़ से बड़ी मार्मिक मानी जाती है कि उसमें गोस्वामी जी की करुणा और वेदना बड़े सहज और मार्मिक रूप में व्यक्त हुई है। किंतु इस दुःख-दर्द का सारा बयान करते हुए गोस्वामी जी अपने को बारम्बार न केवल राम गुलाम कहते हैं, बल्कि यह भी सूचित करते चलते हैं कि उन जैसा पातकी इस संसार में ढूँढ़ने से भी न मिलेगा। यदि कोई आलोचक आज इस प्रसंग को "दास्य-भाव" का उत्तमोत्तम व्याख्यान कहकर छुट्टी पा लेता है या इसे इतिहास-विवेक-सम्मत अर्थ में ग्रहण करने में उसे निःशेषीकरण का खतरा दिखायी पड़ता है, तो समझना चाहिये कि न तो वह तुलसीदास के ज़माने को समझा है, न अपने -- उनकी कविताई को समझना तो दूर की बात है। क्योंकि "ये उल्टी तस्वीरें हैं, तस्वीर को सीधा करने पर लगेगा कि वास्तविक वस्तु तो यहाँ मानवीय वेदना ही है और यह वेदना अपने हृदय द्वारा निर्मित श्रद्धा-विश्वासमय आदर्श के सम्मुख प्रकट होती है।"[1] "जिन छाया - चित्रों

---

1. इतिहास और आलोचना, इलाहाबाद, पृ० 77.

को आज हम भ्रम समझते हैं, उन्हीं को वे कवि वास्तविक समझते थे। समाज को देखने का उनका दृष्टिकोण ही ऐसा था कि हर चीज उल्टे रूप में दिखायी पड़ती थी। मर्यादा की भावना तुलसी में पैठा हुई अपनी सामाजिक अवस्था से लेकिन समझाकि मर्यादा की स्थापना अवतार लेकर राम करेंगे।"[1]

भ्रम को वास्तविकता मान लेने की ऐतिहासिक विडम्बना को जो नहीं समझता, वह "विनय पत्रिका" को नहीं समझता -- बनता फिरे गोस्वामी का भक्त। वास्तविक जीवन की छायायें कामायनी की पैटेली में टेढ़ी-मेढ़ी होकर पड़ी हैं, इसे जो नहीं भाँप पाता, कामायनी को नहीं समझता -- करता रहे मनोवैज्ञानिक, मिथकीय, शैवागमी विश्लेषण।

वस्तुत: हर युग अपने संघर्षित ज्ञान-विवेक-संस्कार के अनुसार किसी रचना को नये अर्थ में पढ़ता है। रचना वही पुरानी होती है, लेकिन ज्ञान के विकास के साथ उसका अर्थ बदल जाता है, लेकिन यह अर्थ-परिवर्तन रचना की सापेक्षता में ही होता है। वस्तुत: रचना और पाठक के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध बनता है, जिसमें पदार्थ और चेतना की तरह रचना की स्थिति प्रधान और पाठक की गौण होती है। अतीत की दूरी और रचना के अपने अन्तर्विरोधों को मिटाए बगैर इस अर्थ-परिवर्तन को उद्घाटित करना ही आलोचक का कर्तव्य है, न कि विभिन्न अर्थ-संभावनाओं के स्वैराचार की वकालत।

---

1. इतिहास और आलोचना, इलाहाबाद, पृ० 77.

कहना ना होगा कि मुक्तिबोध ने कामायनी में पढ़ने वाली वास्तविक जीवन की छायाओं को पहचान लिया... बताया कि प्रसाद फैंटेसी के माध्यम से अपने ही युग की कथा कह रहे हैं । मुक्तिबोध की दृष्टि इतनी तीक्ष्ण थी कि फैंटेसी की रहस्यमय धुंध भी उन्हें चकमा न दे सकी और कामायनी के पात्र और परिस्थितियों की कथित प्रतीकात्मकता और रूपकात्मकता के वास्तविक निहितार्थों को उद्घाटित करने से अपने को रोक न सके । और शायद इसीलिये वे बिम्बों की छटा और घटा देखने वाली छँटी छँटाई आलोचना तक अपने को सीमित न कर पाये ।

मुक्तिबोध कृत कामायनी के मूल्यांकन के सिलसिले में एक प्रश्न यह उठाया गया है कि "वह विचारधारात्मक आलोचना है, सौंदर्यबोधी आलोचना नहीं ।"[६] डा० मैनेजर पांडेय के अनुसार "कला का सौंदर्यबोधी प्रभाव जितना महत्वपूर्ण होता है, उतना ही महत्वपूर्ण उसका विचारधारात्मक प्रभाव होता है । सच बात तो यह है कि सौंदर्यबोधी प्रभाव विचारधारात्मक प्रभाव से एकदम अछूता नहीं होता । फिर भी सौंदर्यबोधी प्रभाव और विचारधारात्मक प्रभाव में अन्तर होता है । प्रभावों की इस भिन्नता को आलोचना के दो रूपों में देखना जा सकता है । विचारधारात्मक आलोचना और सौंदर्यबोधी आलोचना में यही अन्तर दिखाई पड़ता है ;........ किसी भी समाज की विशेष ऐतिहासिक अवस्था के सम्पूर्ण सामाजिक यथार्थ के अंतर्विरोधों और जटिलताओं की अभिव्यक्ति विचारधाराओं में होती है । विचारधाराओं में विभिन्न वर्गों के जीवन की वास्तविकताएं और आकांक्षाएं

भी व्यक्त होती हैं । विभिन्न विचारधारात्मक रूपों में इन सब की अभिव्यक्ति एक जैसी नहीं होती । एक ऐतिहासिक कालखंड में विभिन्न विचारधारात्मक रूपों पर विचार करते समय विभिन्न विचारधारात्मक रूपों में निहित एकता के साथ साथ व्यक्त अंतर्विरोधों पर ध्यान देना भी जरूरी है । उनकी ऐतिहासिकता के साथ साथ विशिष्टता को भी देखना जरूरी है । सौंदर्यबोधी विचारधारा के विभिन्न रूपों को दूसरे विचारधारात्मक रूपों की तरह देखने समझने से उनकी ऐतिहासिकता तो समझ में आ सकती है, लेकिन विशिष्टता को छूट जाती है, इसलिये सौंदर्यबोधी विचारधारा की विशिष्टता को ध्यान में रखकर ही कला और विचारधारा के सम्बन्ध में विचार करना बेहतर होगा ।[1]

इस वक्तव्य में सौंदर्यबोधीय विचारधारा की प्रकृति और प्रभाव की विशिष्टता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है और उसे राजनीति समाज-विज्ञान और इतिहास आदि दूसरे विचारधारात्मक रूपों में निःशेष कर देने की प्रवृत्ति का विरोध किया गया है । साथ ही, निःशेषीकरण के नाम पर दूसरे विचारधारात्मक रूपों से कला को परम स्वाधीन मान बैठने की धारणा से भी असहमति प्रकट की गयी है । इस निष्कर्ष पर मुक्तिबोध की कामायनी: एक पुनर्विचार को देखें तो पायेंगे कि वह उस हद तक खालिस विचारधारात्मक आलोचना नहीं, जैसा कि समझा जाता है । उनका कामायनी के रचना विधान के केन्द्र में श्रद्धा को रखकर उसकी प्रकृति की विशिष्टता को समझने-समझाने वाले पहले व्यक्ति मुक्तिबोध ही हैं । कामायनी की अपनी विशिष्ट

---

1. प्रस्ताव, अंक 6, मार्च 84, पटना, पृ० 28.

रचना-प्रकृति में वास्तविक जीवन किस प्रकार रूपांतरित माध्यमित हुआ है -- इस मर्म को उद्घाटित करने वाले भी मुक्तिबोध ही हैं । अपने युग की कथा को मनु औरश्रद्धा की कथा बनाकर प्रसाद जी ने दूरी और अपरिचय से एक कलात्मक आकर्षण सी सृष्टि की है -- यह बात भी मुक्तिबोध की आँखों से ओझल नहीं हो पायी । इसी प्रकार प्रसाद की भाषा के बारे में मुक्तिबोध ने पंत वाले लेख मे लिखा है कि उन्होंने कभी स्वर नहीं साधा । मुक्तिबोध कृत कामायनी की आलोचना प्रसाद के केवल दार्शनिक विचारों की आलोचना नहीं है, वह उनके भावबोध (मनु, श्रद्धा, इड़ा आदि के चरित्र) और उसके ऐन्द्रिय रूप (पैटर्न) की भी परख है । हाँ यह सही है कि वह पूर्ण नहीं है, भाषा आदि अन्य तत्वों की चर्चा नहीं है -- जैसा कि मुक्तिबोध ने स्वयं स्वीकार किया है । वस्तुत: "पुनर्विचार" में कामायनी की प्रकृति की विशिष्टता की पहचान तो कमोवेश है, लेकिन प्रभाव की विशिष्टता का सौंदर्यतात्त्विक प्रत्याख्यान अत्यल्प है ।

इस मुक्तिबोध स्वीकृत सीमा के बावजूद "कामायनी : एक पुनर्विचार" समकालीन साहित्य के पुनर्मूल्यांकन के बहाने नये मूल्यों का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो समकालीन साहित्य के मूल्यांकन के साथ ही समकालीन संदर्भ में अपनी पूरी परम्परा का मूल्यांकन करने की दृष्टि देता है ।"[1]

---

1. द्र० नामवर सिंह -- कविता के नये प्रतिमान,

छायावाद --

छायावाद के बारे में मुक्तिबोध के लेखन की शुरुआत सन् ५। में लिखे गये लेख से होती है । इस लेख में मुक्तिबोध ने बच्चन की "निशा - निमंत्रण" को महादेवी वर्मा की रचनाओं से श्रेष्ठ माना था ।[1] लेकिन सन 48-50 में लिखे गये निबन्ध "साहित्य में पौराणिक ऐतिहासिक संदर्भ" में छायावाद के एक अन्यतम कवि प्रसाद के बारे में उनके विचार देखने लायक हैं -- "यदि उनके (प्रसाद जी के) पूरे साहित्य को देखा जाय (जो हमारे विषय के बाहर है) तो हम पायेंगे कि नियतिवाद, पलायनवाद आदि दोष अपने कुछ रूप में ही उनमें उपस्थित हैं । उन दोषों के सकल कारण हैं, जिनका विवेचन आगे किया जा सकता है । परन्तु उनके सम्पूर्ण साहित्य की प्रधान विशेषताओं में से ये नहीं हैं । जिसने मात्र इन दो दोषों को उनकी प्रधान विशेषता माना है, उसने प्रसाद, उनकी प्रेरणा, उनकी शक्ति और उनकी सीमा को नहीं पहचाना।[2]

सन् 55-56 में लिखित लेख "छायावाद और नयी कविता" इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि सन् ५। में छायावाद के बारे में जो बातें मुक्तिबोध ने स्थापित की हैसियत स्वयं वही थी, अब वे नयी कविता वाले छायावाद के बारे में सन् 39 के आसपास क्या प्रतिक्रिया कर रहे थे -- इस रूप में सामने आती हैं । मुक्तिबोध ने लिखा है कि "नयी कविता

---

1. देखें - अध्याय - 1.
2. मुक्तिबोधरचनावली, खंड 5, (पेपर बैक), पृ0 41.

वाले लेखक सन् 1939 से ही छायावादी आदर्श भूमि को वैचारिक दृष्टि से त्याग रहे थे। उनका सबसे महत्वपूर्ण विरोध सिर्फ एक बात को लेकर था। और वह यह कि छायावाद ने अर्थभूमि को संकुचित कर दिया है। सौंदर्य, सुख, कष्ट, लक्ष्य, आदर्श, क्रोध, क्षोभ का चित्रण, जो छायावाद में हुआ, वह वास्तविक मनोदशाओं का नहीं वरन कल्पित सुख, कष्ट, क्रोध, क्षोभ आदि का है। छायावादी मनोदशा वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करती -- वह जीवन जो जिया जाता है -- उसकी कल्पना वास्तविक कल्पना नहीं। छायावादी मनोभावों में रंगीनी इसलिये है कि उसमें जिन्दगी, जैसी कि वह जी जाती है, की असलियत लापता है। यही है वह मूल प्रतिक्रिया जो नयी कविता ने उन दिनों छायावाद के विरुद्ध की थी।..... 'छायावाद' में कल्पना का विलास है उसकी तकलीफ नहीं।"[1]

लगभग यही बात, इसी तर्ज पर "हिन्दी काव्य की नयी धारा" शीर्षक लेख में दुहरायी गयी है। यह लेख सन् 55-57 में लिखा गया था। सन् 58 में शमशेर पर लिखे गये लेख में छायावाद के बारे में फिर टिप्पणी की गयी है। शमशेर की कविता को "विशिष्ट भाव प्रसंग की कविता बताने के क्रम में मुक्तिबोध हिन्दी की आत्मपरक रोमैंटिक कविता की खबर लेते हैं -- "कविता विशेषकर आत्मपरक कविता ने हिन्दी साहित्य की चिंतनधारा को अत्यधिक प्रभावित किया है। हिन्दी की आत्मपरक कविता व्यक्ति-निष्ठ भले हो, उसमें वास्तविक भाव-प्रसंगों की मौलिक विशिष्टता का बहुत कम चित्रण मिला

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, पेपर बैक, खंड 5, पृ0 316.

गया है । यही कारण है कि आधुनिक नई हिन्दी काव्य में वास्तविक प्रणयभावना बहुत थोड़ी जगह और बहुत ही अल्प मात्रा में है । प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी बहुत खेदजनक है । प्रणयजीवन के सर्वोत्तम कवि आज भी मीरा और सूर हैं, उनके उद्गार हमें भीतर से हिला देते हैं, इसलिये कि वे विशिष्ट भाव प्रसंग का सहारा लिये हुए हैं । विशेषभाव-प्रसंगों की रूप रेखाओं की विस्मृति और प्रणय-जीवन के वास्तविक मनोवैज्ञानिक चित्रों की कमी यह सूचित करती है कि विशुद्ध व्यक्ति निष्ठता अपने ही उद्देश्यों को पराजित कर देती है । वास्तविक भाव प्रसंगों में क्रमबद्ध और सक्रिय संवेदनाओं के चित्रण के अभाव में, केवल सामान्यीकृत भावना, प्रकृति पर मन के रंगों का आरोप, केवल एक मूड और भावनात्मक रस और लगभग गणितशास्त्रीय यांत्रिक शिल्प -- यही तथाकथित आधुनिक रोमैंटिक कविता की उपलब्धि है । वास्तविक जीवन का "कुछ हृदयमथ्राहिंग" इफेक्ट" हमें आधुनिक रोमैंटिक कविता में अधिक प्राप्त नहीं होता ।"[1]

जो बात इसके पूर्व के दो लेखों में मुक्तिबोध ने नयी कविता वालों के मुख से कहलाई थी, वही बात यहाँ स्वयं कह रहे हैं ...... किंतु इस वक्तव्य को पढ़ते समय दो तथ्यों पर ध्यान देना जरूरी है । एक तो यह कि छायावाद की लाठी से नयी कविता को पीटने की प्रतिक्रिया में ये पंक्तियाँ लिखी गयी हैं । दूसरे यह कि शमशेर के वैशिष्ट्य को रेखांकित करने की झोंक में छायावाद का सरलीकरण कर

---

1. रचनावली, खंड 5, पृ० 432.

दिया गया है । मुक्तिबोध के इस सरलीकरण से हम भले ही असहमत हों उसमें सच्चाई का एक अंश तो है ही ।

पंत का मूल्यांकन --

छायावाद के एक दूसरे महत्वपूर्ण कवि सुमित्रानन्दन पंत पर लिखा गया मुक्तिबोध का लेख कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । इसका लेखनकाल सन् 60 है । इस लेख में मुक्तिबोध की आलोचना प्रक्रिया का सम्यक निदर्शन होता है । छायावाद पर यहाँ पहले जैसे तीखे हमले नहीं किये गये हैं । लगता है कि जब मुक्तिबोध किसी कवि विशेष की चर्चा करते हैं, तब वे संयत रहते हैं लेकिन जब "छायावाद" सामने होता है, उनका रुख कड़ा हो जाता है । लगता है कि उस समय छायावाद को लेकर की जा रही पॉलिमिक्स का इस पर असर है । जो भी हो, पंत पर लिखा यह लेख महत्वपूर्ण है, इसीलिये इस पर कुछ विस्तार से चर्चा की जायेगी ।

मुक्तिबोध ने बहुत पहले सन् 50-51 में "कामायनी : एक पुनर्विचार" की भूमिका के रूप में लिखे गये लेख में कहा था कि "अब तक ऐतिहासिक-सामाजिक विवेचना स्थूल रूप से होती आयी है । वह आलोच्य साहित्य के सामाजिक ऐतिहासिक परिवेश का तो यथातथ्य निरूपण कर देती है, किन्तु लेखक के व्यक्तित्व के भीतर उसके सन्निवेश के मनोवैज्ञानिक मर्म

को उद्घाटित नहीं करती । सच्चा ऐतिहासिक दृष्टिकोण वह है जो न केवल बाहरी स्थिति-परिस्थिति को, वरन् साहित्य के मनोवैज्ञानिक तथ्यों को, समाज की विकासात्मक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है, तथा उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों को विकास की गतिमान धारा के बीच की लहरों के रूप में उद्घाटित करता है ।"[1] अपने इन्हीं मंतव्यों से प्रेरित होकर वे किसी कवि, कविता पर विचार करते हुए सबसे पहले रचनाकार की प्रकृति और काव्य-प्रवृत्ति पर विचार करते हैं । विशिष्ट या ठोस का अध्ययन करने के पश्चात ही वे सामान्यीकरण और मूल्य-निर्णय की ओर बढ़ते हैं । यह प्रक्रिया आगमन से निगमन की ओर बढ़ने की उनकी घोषित शर्त के अनुकूल है ।[2] इस प्रक्रिया में खतरे भी बहुत हैं क्योंकि रचनाकार की प्रकृति का बहुत कुछ अपने जीवनानुभव और रचनाकार की रचनाशीलता के आधार पर अनुमान करना पड़ता है, इसलिये यह संभावना बनी रहती है कि विश्लेषक अपनी प्रकृति का रचनाकार पर आरोप कर दे । मुक्तिबोध द्वारा किये गये प्रसाद के व्यक्तित्व विश्लेषण के सिलसिले में डा० शर्मा को यही लगा । मुक्तिबोध ने एक जगह लिखा भी है कि कभी कभी होता यह है पाठक की रुचि विश्लेषित विषय से ज्यादा विश्लेषणकर्ता के मनोविज्ञान में झाँकने की हो जाती है ... विश्लेषक के विवेचन करने के अंदाज के बीच से विश्लेषक का बिम्ब उभरने लगता है । इस तरह के झमेले से बचने का उससे ज्यादा वस्तुनिष्ठ दिखने वाला एक तरीका यह हो सकता है कि इसबातको

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, पेपर बैक, खंड 5, पृ० 69.
2. विस्तार के लिये देखें, अध्याय - 3.

मनोविश्लेषण का क्षेत्र कह कर साहित्य समीक्षा से बा'र कर दिया जाए, जैसा कि लुसिएं गोल्डमन कहते हैं ।.... अमुक रचना क्यों लेखक ने ही क्यों की? कोई दूसरा लेखक वैसी रचना क्यों नहीं कर पाया ? ऐसे सवालों में उनकी दिलचस्पी नहीं । व्यक्ति रूप में लेखक के प्रति लुसिएँ गोल्डमन की दिलचस्पी नहीं हैं, उनके लिये किसी सामाजिक संवर्ग या व्यापक अर्थों में पूरे समाज के एक सदस्य के रूप में ही लेखक का महत्व है । उनके विचार में यह सही है कि अनेक व्यक्तियों के बीच से कोई एक निकलता है जो अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को किसी वर्ग या युग के दृष्टिकोण में अधिकर संगत वाणी प्रदान करता है, किंतु उसको समझने के लिये किसी रचनाकार-विशेष की ओर जाने की जरूरत है नहीं, बल्कि यह देखने की है कि वह कौन सा संवर्ग है, जिसने ऐसी संरचना का निर्माण किया, जिसके दरम्यान रचना ने एक संगत रचना संसार बनाया । इसलिये महत्वपूर्ण यह दिखाना है कि किन सामूहिक प्राणियों से उसका सम्बन्ध था ।"[1] स्मरणीय है कि मुक्तिबोध आर्थिक

---

1. If a I am asked, not why Racine's tragedies could be witten from Port Royal but whyyit was Racine who wrote them, that is the problems for psychoanalysts. Among twenty five or fifty Jansenists it was Racine who found in the world view the possibility of expressing his personal problems in a coherent manner. But the essential fact is that if I wasn't to understand the meaning of Phedre or of Genet's play I must refer them not to the individual Racine or Genet but to the social group who worked out the structures with which the plays (which have no sumbolic meaning) have created a regorously coherent universe, the same structure which on the practical levels faciliated the group's possibility for living. Therefore important thing is fo know with which collective subject one is dealing.

from - Luvien Goldman: An Introduction by Mary Evans.

नियतिवाद के विरोधी हैं, वे आर्थिक ढाँचे और अधिरचना के बीच समरूप सम्बन्ध की धारणा को भी सही नहीं मानते। उनकी दिलचस्पी इस बात में भी है कि एक ही युग और आन्दोलन के विभिन्न रचनाकारों की रचनाओं में जो भिन्नता मिलती है, उसका क्या-क्या कारण है। शायद यही वजह है कि चरित्राध्ययन में उनकी गहरी रुचि थी। उपन्यासों में उनकी गहरी दिलचस्पी और औपन्यासिक चरित्रों पर जीते - जागते लोगों जैसी बातचीत भी यही प्रमाणित करती है। यह सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें थोड़ा हेरफेर के साथ मनोविश्लेषण शास्त्र का 'गालत' प्रभाव घोषित किया जा सकता है। लेकिन जैसा कि ब्लेखानोव ने लिखा है कि मनुष्य की कुछ वृत्तियाँ जैविक हैं।[1] डा० राम विलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'आस्था और सौंदर्य' में इस बात को स्वीकारते हुए लिखा है -- "मनुष्य का इन्द्रियबोध, इन्द्रियबोध का परिष्कार, इन्द्रियबोध के साथ उसके भावजगत का उद्भव और उसका सौंदर्यबोध - इनमें से मूल उपकरण सामाजिक जीवन आरम्भ होने के पहले उसके पास प्रस्तुत रहते हैं। समाजशास्त्र सौंदर्यबोध के विकास, विभिन्न वर्गों और जातियों में उसकी भिन्नता की व्याख्या कर सकता है, वह उसके उद्गम की व्याख्या नहीं कर सकता। उद्गम की व्याख्या के लिये समाजशास्त्र के अलावा जीवविज्ञान की सहायता आवश्यक है। उद्गम ही नहीं, एक ही समाज, में एक ही वर्ग, एक ही परिवार, एक ही वातावरण में रहने वाले लोगों के सौंदर्य सम्बन्धी रुचि की भिन्नता की व्याख्या करने के लिये समाजशास्त्र के अतिरिक्त जीवविज्ञान

---

1. देखें,

की सहायता लेनी पड़ेगी ।"[1]

स्पष्ट है कि सामान्य और विशिष्ट, जैविक और सामाजिक -- इन सब को प्राथमिकता अनुसार द्वन्द्वात्मकता में समझना आवश्यक है ।

विशिष्ट या ठोस से सामान्यीकरण की ओर बढ़ने की अपनी शैली के अनुसार ही मुक्तिबोध जब पंत का अध्ययन शुरू करते हैं तो सबसे पहले उनकी प्रकृति की विशिष्टता पर ध्यान देते हैं । लिखा है कि "उनके (पंत के) यौवनोन्मेष काल में प्राकृतिक सौंदर्य उनके लिये एक वातावरण स्थिति और परिस्थिति लेकर आया । निस्संदेह पंत जी में कोमल संवेदनाओं से आप्लुत एक विशेष प्रकार की अंतर्मुखता थी । शायद यह कल्पना-वृत्ति की कोमलता और आंतरिक तीव्रता के कारण रही हो, या फिर बाह्य से संवेदनाएं प्राप्त कर, फिर उन्हें मात्र मनोमय बना कर उनमें लीन रहने की मनोवृत्ति के कारण रही हो -- कहा नहीं जा सकता । किंतु यह सत्य है कि संवेदनाओं के मूल बाह्यस्रोतों के प्रति वे उन्मुख थे ।"[2] अगले पृष्ठ पर प्रसाद और पंत की तुलना के जरिये पंत का बिम्ब निर्मित करने का प्रयास इस प्रकार चलता है --- "मैं यह कहना चाहता हूँ प्रसाद जिस अर्थ में अंतर्मुख कवि हैं, उस अर्थ में पंत नहीं.... अथवा उनकी अंतर्मुखता बहुत क्षीण है । पंत जी न केवल अपने भावों को सरल रूप में देखते हैं, बल्कि उसकी मात्रा भी बहुत कम होती है, और साथ ही उनका आवेग भी । पंत जी के

---

1. आस्था और सौंदर्य, पृ० 30.
2. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 445.

काव्य में संयम असंयम दिखाई नहीं देता । हाँ कहीं-कहीं कल्पना का अतिरेक पूर्ण आवेग अवश्य प्राप्त होता है । वह मात्र निवेदन करते हैं ..... सच तो यह है कि पंत जी अंतर्द्वंद्व के गहन भावदृश्यों के चित्रकार नहीं हैं । वैसी अंतर्मुखता और विश्लेषणमयी दृष्टि उनके पास नहीं । वे प्रकृति चित्रों के अतिरिक्त मनोदशाओं और मन:स्थितियों के गीतकार रहे हैं ।"[1] ऐसी प्रकृति के परिणाम स्वरूप "वे सांकेतिक सूचक अर्थ प्रवण शब्दों और प्रतीकों द्वारा उन स्थितियों और दशाओं को इस प्रकार प्रेषित करते हैं कि पाठक उन्हीं मन:स्थितियों और दशाओं की संवेदनामय धुंध में खो जाता है .....। ऐसी कविताओं का स्वर निस्संदेह मन:स्थितियों का संवाहक होता है । ..... स्वर द्वारा मन:स्थिति अन्यों में संक्रमित होती है ।..... पंत उसे सहज रूप में विश्लेषित और संश्लेषित भावदृश्य नहीं देते, वरन मन: स्थितियों और मनोदशाएँ प्रदान करते हैं । वह उनसे अभिभूत हो जाता है । पंत जी की लोकप्रियता का यही रहस्य है ।"[2]

इसके आगे बताया गया है कि पंत ने अपने काव्य का विषय क्षेत्र बढ़ाया है । ऐसे प्रयोगों में कवि का साहस और अग्रसर होने वाली प्रतिभा की सूचना मिलती है । लेकिन पंत नये भावों की अभिव्यक्ति के लिये नयी शब्द समाहार-शैली आदि विकसित नहीं कर पाते । अभिव्यक्ति के वही पुराने ढर्रे सामने आ जाते हैं और "कन्वीशन्ड

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 446.
2. वही0 पृ0 446.

साहित्यिक रिफ्लेक्स"[1] नियम के तहत नयी अन्तर्वस्तु अपना रूपाकार नहीं ग्रहण कर पाती ।

इसी प्रसंग में मुक्तिबोध ने "चिदम्बरा" पर जो टिप्पणी की है, वह देखने योग्य हैं -- "यह प्रतीत होता है कि मन:स्थिति व्यंजक कविताओं में भी भावों की केवल रूप-रेखा उपस्थित करने के बजाय कुछ और चाहिये । केवल निवेदनात्मक शैली से काम नहीं चलने का । चिदम्बरा में एक मजेदार बात और हुई । वाव कईं स्थानों पर मात्र एक दृष्टि, एक रूख या झुकाव को प्रकट करने लगे । भावों से सम्बद्ध जो चित्रावली बहुत पहले से चली आ रही थी वह थोड़े हेर फ़ेर के साथ केवल झुकाव प्रकट करने लगी । फलत: पंत का बहुत सा काव्य केवल झुकाव का काव्य बनकर रह गया । वह मात्र दृष्टि-काव्य हो उठा, मर्म काव्य नहीं । जहाँ-जहाँ इसप्रकार का दृष्टि-काव्य प्रकट हुआ, वहाँ-वहाँ जीवन तत्वों की रिक्तता भी प्रकट होने लगी । .... इस श्रेणी की बहुत सी कविताओं में मात्र शुभेच्छाएं और कल्याण कामनाएं हैं, जो कवि द्वारा विकसित अपनी पुरानी शब्दावली में प्रकट हुई हैं ।"[2]

ऐसा क्यों हुआ, यह दिखाने के लिये मुक्तिबोध एक बार फिर पंत और प्रसाद के व्यक्तित्व की भिन्नता को रेखांकित करते हैं ।

---

1. देखें, अध्याय - 3.
2. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 447.

मकसद यह दिखाना है कि व्यक्तित्व की भिन्नता रचनाओं और रचना-प्रक्रिया को किस प्रकार प्रभावित करती है, जबकि दोनों ही रचनाकार एक ही युग-संदर्भ में लिख रहे हैं। लिखते हैं "पंत जी पर अपने निज का इतना जबर्दस्त बोझ नहीं रहा। फलतः वास्तव से उद्भूत संवेदनाएं और वास्तव के प्रति उनकी प्रतिक्रिया अधिक सरल और सीधी थी। ..... सच बात तो यह है कि निज का भार कम होने से, अंतर्मुखता के सापेक्षिक अभाव के फलस्वरूप, पंत जी को शायद अंतःस्थिति भावों का आकलन अध्ययन कम ही है। फलतः उनके काव्य में जहाँ संवेदना की ताजगी कम है, वहाँ-वहाँ भावतत्व दुर्बल हैं। किंतु जहाँ जहाँ उनके काव्य में संवेदना की ताज़गी है वहाँ उनके शब्द बोलने लगते हैं, नाचने लगते हैं, भाव चमकने लगते हैं। ऐसे क्षणों में जब वे छंद के चौखटे में सारभूत जीवन-तथ्य भी जमा कर देते हैं, तब भी उनकी कविता में एक खास काट का ज्यामितिक सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है. इसलिये कि उसमें एक ताजगी होती है।"[1] किंतु "पंत बुनियादी तौर पर स्थीरट हैं।"[2] इसलिये वास्तव का उनके अंतःकरण से जो सम्बन्ध रहा, वह अधिकतर मनोमय ही है। वास्तव से उनका सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक संघर्षात्मक नहीं रहा। ..... मुझे कहने दीजिये कि जीवन - संघर्ष की इस आपेक्षिक अल्पता तथा स्वाभाविक एकांत - प्रियता ने बाह्य वास्तव से पंत जी के सम्बन्धों के आसपास एक सीमा रेखा खींचदी।"[3] यहाँ पंत जी की प्रकृति

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 448.
2. वही० पृ० 448
3. वही० पृ० 448.

और उनके जीवन संघर्ष की द्वन्द्वात्मकता से निर्मित होने वाली उनकी काव्य - प्रवृत्ति का बहुत ही संगत नियोजन कर दिया गया है । आगे लिखा है कि "पंत जी के भीतर की तरल-व्यवस्था बाह्य संवेदनाओं का सम्पादन संशोधन न कर उन्हें वास्तव रूप में सारी ताज़गी के साथ ग्रहण करती है ।"[1] ग्राम्या के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं कि "रूपकों और अन्य कल्पना चित्रों के प्रयोगके बावजूद हमें यह कहना ही पड़ेगा कि काव्य में थीसिस लिखना पंत जी के बस की बात नहीं है ।"[2] यहाँ संकेत है कि मुक्तिबोध ऐसा काव्य लिखना चाहते हैं, किंतु किसी खास खाट की ही कविता लिखी जाय, ऐसी वकालत वे नहीं कर रहेहैं क्योंकि "प्रश्न विचारों की काव्य-प्रभावोत्पादकता का ही है ।"[3]

इसके आगे भावना एवं विचार के सम्बन्ध और काव्य में उनकी स्थिति के बारे में मुक्तिबोध के विचार बड़े ही सार्थक और सटीक हैं । इस पर स्वतंत्र रूप से विचार करना लाभकारी होगा ।[4] संक्षेप में पंत जी पर उनका निर्णय इस प्रकार है --"पंत जी में विचारात्मकता अधिक है, विश्लेषण प्रधान दृष्टि बहुत कम । विचार जब तक रसानुभूति के अंगार में कुंदनवत् न चमके, तब तक उनमें वह शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसके बिना वे न केवल श्रीहीन हो जाते हैं, वरन् पंगु भी ।"[5]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 452.
2. वही0 पृ0 453.
3. वही0 पृ0 453.
4. देखें अध्याय - 3.
5. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 454.

भक्ति काव्य --

परम्परा के मूल्यांकन का यह प्रसंग भक्ति आन्दोलन पर मुक्तिबोध द्वारा लिखे गये लेख के विवेचन के बिना अधूरा रहेगा । उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल द्वारा किये गये मूल्यांकन में भक्त कवियों का वरीयता क्रम कुछ इस प्रकार बनता है -- 1. तुलसी दास (राम भक्ति शाखा), 2. सूर दास (कृष्ण भक्ति शाखा), 3. जायसी (प्रेम मार्गी), 4. कबीर (निर्गुण मार्गी) । यह प्रसंग इतना परिचित है कि अनावश्यक रूप से इसे विस्तार देने की जरूरत नहीं, लेकिन आचार्य शुक्ल के इस विवेचन पर डा० राम विलास शर्मा का जो रुख रहा है उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है । वे भी शुक्ल जी की तरह पहले तो भक्ति आंदोलन के सभी कवियों को समवेत रूप में लेने का प्रस्ताव करते हैं । और फिर शुक्ल जी द्वारा सुझाये गये वरीयता क्रम को बरकरार रखने की फिक्र में इन्द्रियबोध, भावबोध और विचारधारा में से किसी एक के आधार पर मूल्यांकन करने की पद्धति निकाल लेते हैं, और विचारधारा का मूल्यांकन भी तात्त्विक आधार पर चलता है, न कि ऐतिहासिक प्रसंग लेकर । जबकि डा० शर्मा का स्वयं मानना है कि कला का सम्बन्ध विचारों के साथ मनुष्य के इन्द्रियबोध और भावों से भी है ..... साहित्य भी शुद्ध विचारधारा का रूप नहीं है उसका भावों और इन्द्रियबोध से घनिष्ठ सम्बन्ध है ।[1] डा० शर्मा की इस मान्यता के आलोक में देखें तो पायेंगे कि उनका स्वयं का लेखन भी इन शर्तों पर

---

1. आस्था और सौंदर्य, इलाहाबाद, पृ० 30.

खरा नहीं उतरता । सिद्ध नाथों की भूमिका[1] को पूरी तौर पर खारिज करते हुए वे बौद्ध धर्म पर धावा बोलते हैं और उसे भी जड़मूल से प्रतिक्रियावादी घोषित कर देते हैं ।[2] सूफियों और निर्गुनियाँ संतों के बीच फर्क करते हुए वे एक बार फिर विचारधारात्मक-तात्त्विक सरणि का सहारा लेते हैं -- 'सूफियों का दृश्यमान जगत के बारे में क्या कहना है? शुक्ल जी के अनुसार 'दृश्य जगत के नाना रूपों को उसी अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त आभास मानकर सूफी लोग भावमग्न हुआ करते हैं । अद्वैतवादियों, निर्गुण ब्रह्मवादियों और योगियों से यह उनका महत्वपूर्ण भेद है । जो संसार को माया कहता है वह माया में भावमग्न होकर सत्य का साक्षात्कार करने की आशा नहीं कर सकता । जायसी ने संसार को माया कहा जो उन्हें भारतीय वेदान्त के निकट ले जाता है । साथ ही जगत को दर्पण कहना, नाना रूपात्मक दृश्यों को छाया या प्रतिबिम्ब कहना यह सूचित करता है कि अचित् को ब्रह्म तो नहीं कह सकते, पर है यह उसी रूप की, जिस रूप में यह जगत् दिखायी पड़ता है ।' योग और वेदान्त से जायसी का यह अंतर ध्यान देने योग्य है । जगत ब्रह्म का ही शुद्ध दर्पण है, जगत के दृश्य उसी ब्रह्म के रूप के प्रतिबिम्ब हैं और जायसी को जितनी प्रेम इस दर्पण से है, रूप के प्रतिबिम्ब से है, उतना परोक्ष रूप से नहीं ।'[3]

इससे यह निष्कर्ष निकला कि जायसी आदि सूफी कवियों की तुलना में कबीर आदि निर्गुनियाँ संतों का दर्शन पिछड़ा हुआ है ।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, इलाहाबाद, 26-47.
2. Buddhism : A Marxist approach.
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, आगरा, पृ0 52.

स्मरण रहे कि यहाँ सारा निर्णय दार्शनिक-तात्त्विक निकष पर दिया गया है । एक दूसरे स्थान पर कबीर को थोड़ी रियायत दी गयी है -- "सूर और तुलसी पर मायावाद का बिल्कुल असर न हुआ हो, यह बात नहीं । उन पर उसका असर है, लेकिन इससे उनकी मूल प्रवृत्ति कुंठित नहीं होती और वह मूल प्रवृत्ति मायावाद का प्रतिरोध है । शुक्ल जी ने कबीर को प्रायः इस धारा से बाहर रखा है, लेकिन कबीर ने भी शुद्ध निर्गुणवाद का बहुत जगह विरोध किया है । इसलिये उन्हें इस धारा से बाहर रखना ठीक नहीं ।"[1]

मतलब ये कि कबीर जो भी सार्थक कह रच सके, उसका कारण शुद्ध निर्गुणवाद का विरोध है, सूर, तुलसी और जायसी पर इस मायावाद का बरायनाम असर था, इसलिये वे कबीर से बाजी मार ले गये । .... रहस्यवाद की "घातक" छाया से जो कवि जितनी दूर तक बच सका, उतना ही बड़ा कवि हुआ । किंतु क्या कारण है कि तुलसी जैसा कवि जो रहस्यवाद की घातक छाया से अपने को साफ बचा ले गया और जिसकी मूलप्रवृत्ति अकुंठ सुरक्षित रही, बद्ध-मूल सामाजिक मूल्यों के खंडन में वैसी प्रखर तेजस्विता का परिचय न दे सका, जैसीकि इसके कबीर ने दिखायी । इससे क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उस कथित रहस्य-मायावाद और वैचारिक तेजस्विता के बीच अभिन्न संबंध है ? बिना एक के दूसरे का होना असंभव है ।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, आगरा, पृ० 78.

तुलसी के महत्व को प्रतिपादित करते हुए डा० शर्मा लिखते हैं कि "तुलसी के मुकाबले में शुक्ल जी ने सूर, जायसी और कबीर को भी नीचा स्थान दिया, यह ठीक है ।"[1] क्यों ? इसलिये कि "तुलसी का भावक्षेत्र अधिक व्यापक है । कबीर, सूर आदि से अधिक वे मानव-करुणा के कवि हैं ।"[2] यहाँ "भावक्षेत्र" जुमला ध्यान देने योग्य है । भावक्षेत्र की बात क्या इसलिये करना पड़ी कि तुलसी वैचारिक रूप से कबीर से पीछे हैं? उनकी मानव करुणा में आदर्श वर्ण व्यवस्था की छौंक है । इसलिये यहाँ तुलसी की वैचारिकता को छोड़िये केवल "भावक्षेत्र" पर ध्यान दीजिये । सवाल बिहारी बड़े कि देव के तर्ज पर किसी के मुकाबले" में किसी को छोटा- बड़ा घोषित करने का नहीं, बल्कि उनका ऐतिहासिक दृष्टि से समग्रता में मूल्यांकन करने का है ---- विचार, भावबोध, इन्द्रियाबोध, सबको उनके विरोधी - अविरोधी द्वन्द्व - पूर्ण सम्बन्धों के साथ लेते हुए । इसीलिये मुक्तिबोध ने जैसे कामायनी के मूल्यांकन के प्रसंग में, वैसे ही अपने भक्ति - आंदोलन वाले लेख में लिख दिया कि "किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए । एक तो यह कि किन मनोवैज्ञानिक-सामाजिक शक्तियों से वह उत्पन्न है, अर्थात वह किन-किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है ? दूसरे यह कि उसका अंतःस्वरूप क्या है .... तीसरे उसका प्रभाव क्या है, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया और क्यों ? साधारण जनों के किन मानसिक तत्वों को उसने

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 100.
2. वही० पृ० 100.

विकसित या नष्ट किया है ।'[1] कामायनी वाले प्रसंग में इसी के साथ जुड़ा हुआ एक और वाक्य मिलता है -- "इस तीसरे प्रश्न को बगैर पहले प्रश्न से मिलाये हम दूसरे का जवाब नहीं दे सकते ।"[2] यहाँ साहित्य की प्रकार्यवादी (   ) अवधारणा की एकांगिकता के बजाय उसके उत्पत्तिपरक पक्ष के महत्व को भी पहचाना गया है । साथ ही यह भी बतला दिया गया है कि साहित्य की अपनी अस्मिता (अन्तर्तत्व) को भी देखना आवश्यक है, नहीं तो निःशेषीकरण का खतरा पैदा हो जायेगा ; किंतु साहित्य को उसकी उत्पत्ति और प्रभाव के प्रसंग से पूर्णतः काटकर भी नहीं समझा जा सकता -- इसी लिये पहले प्रश्न को तीसरे से मिलाये बिना दूसरे का जवाब नहीं दिया जा सकता ।

मुक्तिबोध ने अपने भक्ति आन्दोलन वाले इस लेख में यह दिखाया कि किस प्रकार सामंती उत्पीड़न के खिलाफ संघर्ष करने वाले योद्धा बाद में स्वयं सामंत बन बैठे । सामंती जकड़ जो भक्ति आन्दोलन के दरम्यान कुछ ढीली पड़ गयी लगती थी, बाद में फिर कस गयी । इसका नतीजा यह हुआ कि धीरे-धीरे भक्ति आन्दोलन की प्राणधारा क्षीण होती गयी और फिर आया रीतिकाल का दौर । "इस विवेचन से भक्ति काल के बाद रीतिकाव्य के उदय का कारण भी स्पष्ट हो जाता है । यदि आरम्भ के शास्त्र-निरपेक्ष निर्गुणकाव्य की शास्त्र सापेक्ष सगुण परिणति की ओर ध्यान दें तो शास्त्रीयतावाद के पुनरुत्थान के रूप में रीतिकाव्य

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 298.
2. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, (पेपर बैक), पृ० 205.

के प्रसार की भी संगति लग जाती है ।"[1]

यद्यपि मुक्तिबोध ने निर्गुणिया संतों के रहस्यवाद पर अलग से टिप्पणी नहीं, किंतु उनके सांस्कृतिक सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पट में इस रहस्यवाद के महत्व की स्वीकृति मौजूद है ..... वे निर्गुण पंथी संतों की भूमिका को क्रांतिकारी मानते हैं इसलिये अलग से विवाद की कोई भूमिका नहीं बचती । वस्तुत: जैसा कि ग्रामशी ने कहा है, "प्रश्न इस तथाकथित रहस्यवाद की तात्विक समीक्षा का उतना हकिक नहीं, जितना ऐतिहासिक समीक्षा का है । रहस्यवाद तात्विक दृष्टि से लोक-विरोधी और बुद्धि-विरोधी विचारधारा हो सकती है, किंतु जरूरी नहीं कि किसी निश्चित ऐतिहासिक संदर्भ में भी उसकी लोक-विरोधी भूमिका हो । यह तथ्य है कि मध्ययुगीन सामंती-पुरोहिती उत्पीड़न के वातावरण में विभिन्न देशों के अनेक रहस्यवादी संतों ने विद्रोह का झंडा बुलन्दकिया और इस तरह के अधिकांश विरोधी संत तत्वत: रहस्यवादी ही थे । हिन्दी के योगियों और संतों के रहस्यवाद का मूल्यांकन भी इसी ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन है ।[2] मुक्तिबोध ने भक्ति आंदोलन के प्रसंग में निर्गुण पंथी संतों की क्रांतिकारी भूमिका को रेखांकित करते हुए जाने अनजाने इसी तथ्य को स्वीकृति प्रदान की है । जैसा कि उन्होंने लिखा है कि "किसी भी साहित्य का मूल्यांकन करते हुए यह देखना है बहुत जरूरी है कि "उसका प्रभाव क्या है, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया है।

---

1. दूसरी परम्परा की खोज (पेपर बैक) - नामवर सिंह, पृ0 85.
2. वही0 पृ0 83.

और क्यों ? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित किया या नष्ट किया है ।[1]

मुक्तिबोध के अनुसार " तुलसीदास के सम्बन्ध में ऐसे सवाल करना और भी जरूरी है, क्योंकि कट्टरपंथियों ने अपने उद्देश्य के अनुसार तुलसीदास का उपयोग किया जिस प्रकार आज जनसंघ और हिन्दूमहासभा ने शिवाजी और रामदास का उपयोग किया । सुधारवादियों की तथा आज की भी एक पीढ़ी को तुलसीदास के वैचारिक प्रभाव से संघर्ष करना पड़ा, यह भी एक बड़ा तथ्य है ।[2] सवाल किया जा सकता है कि तुलसीदास का निहित स्वार्थों ने दुरुपयोग किया, उन्हें गलत ढंग से लोगों के सामने पेश किया ? यही नहीं उनकी रचनाओं में ऐसे अंश प्रक्षिप्त कर दिये जो उनके विचारों के अनुकूल पड़ते थे । परंपरा अपने आप नहीं मिल जाती, उसे प्राप्त करना, प्रतिक्रिया के हाथों से छीनना पड़ता है । तुलसीदास के सम्बन्ध में भी प्रगतिवादियों को ऐसा ही करना पड़ा । यही नहीं प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दबाव में ऐसे तत्वों की अनदेखी करना पड़ी जो वस्तुतः जनवादी नहीं थे ।

परम्परा के मूल्यांकन के प्रसंग में अर्थ-ग्रहण सिद्धान्त और मुक्तिबोध के विचारों की सार्थकता --

परम्परा के मूल्यांकन को लेकर ऐसी रस्साकशी एक ही देश

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 298.
2. वही0 पृ0 298.

में दो भिन्न विचार वाली शक्तियों के बीच ही नहीं, कभी-कभी दो देशों के मध्य भी चलती है । भारत के विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान में जिन्ना और गांधी के मूल्यांकन के प्रसंग में लगभग परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले गये हैं । इसी प्रकार, विचित्र विडम्बना है कि भारत के राष्ट्रगान के रचयिता टैगोर हैं, और बंगला देश के राष्ट्रगीत के कवि और कोई नहीं टैगोर ही हैं ।

योरोप में जर्मनी के विभाजन के बाद भी लगभग यही स्थिति पैदा हुई । पश्चिमी जर्मनी वाले अपनी जरूरतों के अनुसार परम्परा का मूल्यांकन करने निकले तो उन्हें कई दिक्कतों का सामना करना पड़ा । कारण यह था कि परम्परा तो पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी की समदेश एक ही थी, पूर्वी जर्मनी वालों द्वारा किया गया परम्परा का मूल्यांकन पश्चिमी जर्मनी वालों को रास नहीं आता था । इस लिये इस प्रतिक्रिया में उन्होंने एक साहित्य सिद्धान्त ही गढ़ डाला, जिसे नाम दिया अर्थ ग्रहण सिद्धान्त । । । इसके अनुसार यह माना गया कि रचना का वही अर्थ होता है, जो पाठक ग्रहण करे । इसलिये आलोचना का काम रचना का 'वास्तविक' अर्थ क्या है, यह खोजना नहीं, बल्कि यह देखना है कि इनके अनुसार पाठक उसमें क्या अर्थ ग्रहण करता है । इनके अनुसार रचना को अर्थ पाठक देता है, इसलिये आलोचना को पाठक-केन्द्रित होना चाहिए । इस प्रक्रिया में रचना को 'मैटाफिजिक्स ऑफ टेक्स्ट' कहकर खत्म कर दिया गया ।'[1]

---

1. देखें,

रचना के वस्तुगत स्वरूप का निषेध करके मनचाहे अर्थ निकालने की आजादी लेने वालों में पश्चिमी जर्मनी के ही चिंतक नहीं हैं, टोनी बेनेट जैसे मार्क्सवादी भी हैं, जो फ्रांस के वामपंथी समालोचक पियरे माशरे (Pierey Machery) से सूत्र लेकर पाठ (Text) के प्रति बुर्जुआ किस्म के पूजाभाव (Feltishism of text and Metaphysics of text) को तज देने की सलाह देते हैं। इनके अनुसार मार्क्सवादी समीक्षा का कार्य विभिन्न सामाजिक दबावों के बीच, इतिहास के ठोस संदर्भों में कोई रचना क्या भूमिका निबाहती है -- इसका अध्ययन करना है। आलोचना विज्ञान नहीं है जो पाठ के सच्चे अर्थ को किसी दिन खोज निकालेगा। आलोचना एक राजनीतिक कार्यवाही है जिसका उद्देश्य रचना की इस तरह व्याख्या करना है कि वह राजनीतिक काम की सेवा में लग जाय।[1]

---

1. The concept of the text must be replaced by the concept of the concrete, and varying, historically specific functions and effects which accrue to the 'text' as a result of different determinations to which it is subjected during the history of its appreciation..... that any enterprise in criticism is essentially a political undertaking. Criticism is not a 'science' which has in view as its goal, a day when its knowledge of pregiven underase if literary texts will be complete. It is an active on going part of the political process, defined by a series of enterventions within and stfuggle for, the uses to which so called literary text are to be put within the real social process __ Marxism and Formalism, P, 148.

इस मान्यता से यह अर्थ निकलता है कि कोई भी रचना स्वयं में प्रतिक्रियावादी या क्रांतिकारी नहीं होती । एक ही रचना भिन्न संदर्भों में भिन्न भूमिका अदा कर सकती है । इस प्रकार की अवधारणा अपने [illegible] प्रकार्यवादी और अति सापेक्षतावादी आग्रहों के कारण रचना की वस्तुनिष्ठता का ही निषेध करती है । लेकिन जैसाकि हम जानते हैं कि कोई भी चीज सापेक्ष होती है, इसका यह मतलब नहीं कि वस्तुनिष्ठ नहीं होती । यह धारणा रचनात्मक उत्पादन की वस्तुनिष्ठता का निषेध करती है और अपना सारा ध्यान उपभोग पक्ष पर केन्द्रित करती है । कहना न होगा कि इससे बेहतर तो मुक्तिबोध की समझ थी, जो न तो ऐतिहासिकता का निषेध करती है, न उसके उपभोग पक्ष को आँख से ओझल होने देती है, और न ही रचना की वस्तुनिष्ठता से इंकार करती है ।

इसीलिये मुक्तिबोध ने तुलसी दास के संबंध में ये प्रश्न उठाये कि गोस्वामी जी की रचनाशीलता किन सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों से उद्भूत है, उसका अंतःस्वरूप क्या है, उसका प्रभाव क्या रहा, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया ? तुलसीदास की भूमिका को निर्गुण संतों की तुलना में पिछड़ी हुई मानने का कारण यह नहीं है कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने उनका दुरुपयोग किया । यही बात कामायनी के बारे में भी सही है । अगर ऐसा होता तो वे शिवाजी को किसानों का नेता न कहते । लिखते हैं "गरीब अछूत किसानों और अन्य जनता को अपना एक और संत रामदास मिला तथा एक नेता प्राप्त हुआ शिवाजी ।"[1]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 1, पृ० 293.

बात यहाँ मुक्तिबोध द्वारा किये गये शिवाजी के मूल्यांकन से सहमत या असहमत होने की नहीं, केवल यह देखने की है कि परम्परा के किसी अंश को वे इसीलिये सुधारवादी या प्रतिक्रियावादी नहीं मान लेते, क्योंकि प्रतिक्रियावादियों ने ऐसी ही व्याख्या कर दी, उनका वैसा ही इस्तेमाल किया। सगुण धारा को निर्गुणधारा की तुलना में सुधारवादी मानने के मुक्तिबोध के पास वस्तुगत ऐतिहासिक कारण हैं, जैसा कि उन्होंने लिखा है कि "क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे गुणवान मुसलमान कवि बारम्बार आये, किंतु रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली और महत्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका ..... क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति आंदोलन के प्रधान (हिन्दी क्षेत्र के) अंतिम कवि थे।"[1]

जब वे तुलसीदास को वर्णाश्रमी सुधारवादी कहते हैं, तो उनके वस्तुनिष्ठ कारणों का हवाला देते हैं, जो उनकी रचना में निहित हैं- "एक बार भक्तिआंदोलन में शूद्रगुणों का प्रभाव कम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर न थी। ये घोषणा तुलसीदास ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा जोर था, उसका क्रांतिकारी संदेश था। कृष्ण भक्ति में वह बिल्कुल कम हो गया फिर भी निम्नजातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने उसको अपना दायरा बतला दिया। निर्गुण मतवाद के

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 296.

जनोन्मुखी रूप और उसकी क्रांतिकारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराणमतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया ।"[1]

इससे यह सिद्ध होता है कि तुलसीदास की रचना में कुछ ऐसे तत्व थे, जिनका कट्टरपंथियों ने बढ़ाचढ़ाकर दुरूपयोग किया । क्या कारण है कि वे कबीर का दुरूपयोग नहीं कर पाये ? कबीर की रचनाओं में वे ऐसे अंश प्रक्षिप्त क्यों न कर सके, जिससे उनका हित सधता । क्या कारण है कि नीची जाति के किसान-कारीगर जनता के अपने कबीर हैं, तुलसी नहीं ? ऐसा क्यों हुआ कि ज्ञानदेव की ज्ञानेश्वरी तीन सौ वर्षों तक छिपी रही ? इस तर्क से मुक्तिबोध की स्थापना पर कोई फर्क नहीं पड़ता कि कबीर के गुरु रामानन्द सगुण भक्त थे और तुलसीदास के बाद प्रधान संत मलूक दास हुए, या तुलसी के समकालीन केशव थे । क्योंकि सवाल प्रमुख धारा का है, न कि एकाध छुट-पुट कवियों का । तुलसीदास के काव्य जैसी कृषक जीवन की समग्रता, भक्ति आंदोलन के किसी कवि में न हो, यह संभव है, इसी प्रकार वे भक्तिकाल के सबसे बड़े कवि हैं, यह भी सच है, लेकिन जहाँ तक जातिवाद और धार्मिक बाह्याडम्बर विरोधी प्रखर चेतना का सवाल है -- वे कबीर से बहुत पीछे हैं और शायद यही कारण है कि बाद के कट्टरपंथियों ने उन्हें बहुत जल्दी हजम कर लिया, लेकिन वे कबीर को हजम नहीं कर पाये । वस्तुतः भारतीय सामंतवाद की रक्षक जातिवादी विचारधारा थी, जो जातिवाद को सुसंगत रूप से चुनौती नहीं दे सकता, वह आदर्श वर्णव्यवस्था वाले रामराज्य की

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 295.

शरण में जाने को अभिशप्त है । यह सही है कि तुलसीदास की रचनाशीलता अपनी इस विचारधारा का सर्वदा समर्थन ही नहीं करती, कहीं-कहीं उससे छिटक पड़ती है । लेकिन इस विचारधारा की चौहद्दी में होने वाली रचनाशीलता की छुट-पुट वारदातें कभी विद्रोह का रूप धारण नहीं कर पातीं, जैसा कि कबीर के यहाँ होता है । सन् 50 - 51 में लिखे गये मुक्तिबोध के लेख के हवाले से कहा जा सकता है कि "... जो तत्कालीन मानव संबंध है, उनको कहीं भी भंग न करते हुए, राम ने निषाद और गुह से भी आलिंगन किया, शबरी के बेर खाये, केवट से दोस्ती की, वनवासी असभ्यों को गले लगाया -- तत्कालीन मानवसंबंधों का वास्तविक निर्वाह उन्होंने अपने इन्हीं आदर्श-गुणों में किया ।....... तुलसीदास जब समाज में यह देखते हैं कि "नारि मुई गृह सम्पत नासी, मूड़ मुड़ाय भये सन्यासी" अथवा जब वे ये कहते हैं कि ब्राहमण शूद्रों का काम कर रहे हैं और शूद्र ब्राहमणों का, और उनके विरुद्ध वे राम का चरित्र लेकर वर्णाश्रम धर्म का आदर्श उपस्थित करते हुए भी यह कहते हैं कि राम को केवल अपने भक्त ही प्यारे हैं, चाहे वे किसी जाति या धर्म के हों..... ।"[1]

तुलसीदास बड़े कवि हैं, कलात्मक दृष्टि से भी श्रेष्ठ हैं, लेकिन वैचारिकता में कबीर से पीछे हैं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि कला और विचारधारा के बीच बहुत सीधा संबंध नहीं, इसीलिये किसी भी रचनाकार का मूल्यांकन करते समय भावबोध, इन्द्रियाबोध और विचारधारा इन सब पर ध्यान देना चाहिये, न कि सुविधानुसार

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, (पेपर बैक), पृ0 54 एवं 69.

किसी एक पर । ऐसा करने पर न तो असुविधाजनक स्थितियों को क्षेपक मानकर खारिज करने की जरूरत पड़ेगी और नहीं गौण मानकर उपेक्षणीय । और, इस प्रकार अतीत की दूरी और रचना के अपने अंतर्विरोधों को खत्म किये बगैर पाठक में एक आलोचनात्मक विवेक जाग्रत करके भी तुलसी या किसी रचनाकार को समझा जा सकता है ।

वस्तुतः जैसा कि मुक्तिबोध ने ईसाई आदि धर्मों के प्रसंग में यह दिखाया है कि इन धर्मों को चलाने वालों ने शुरू में गरीबों के ही दुःख-दर्द को वाणी दी थी, किंतु बाद में शासक वर्गों ने इन बातों को अपने पक्ष में इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और उनकी क्रांतिकारी भूमिका समाप्त कर दी । यही हाल भक्ति आंदोलन का भी हुआ । कम से कम इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति आंदोलन एक समय बाद समाप्त हो गया, और उसकी जनवादी भूमिका भी । अगर हम यह मानने की ईमानदारी दिखाते हैं तो यह भी बताना पड़ेगा कि यह कैसे हुआ ? और शायद यह बताने के लिये उसी रास्ते से होकर गुजरना होगा जो निर्गुण- सगुण धारा की भूमिका में भेद करते हुए मुक्तिबोध ने दिखाया है ।

तृतीय अध्याय

प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता

प्रगतिवाद

अध्याय-1, में दिखाया गया था कि मुक्तिबोध सन् 42 के आस-पास मार्क्सवाद के प्रभाव में आये । मार्क्सवाद से उनका जुड़ाव बहुत ही आत्मिक और भावनात्मक स्तर का था । प्रमाण के लिये एक नहीं, अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं । सम्प्रति केवल उदाहरण लें --- 30 अक्तूबर 1945 -- मुक्तिबोध नेमिचन्द्र जैन को पत्र लिख रहे हैं --- "आपने एक व्यक्ति के साथ नाजुक खेल खेला है । इसे कम्युनिस्ट बनाया, दुधर्ष घृणा के उत्ताप से दीक्षित ।"[1] मुक्तिबोध के पत्रों को जितने भी पढ़ा है, वह उनकी पारदर्शी ईमानदारी से चकित है । आज के जमाने में भी उनके शब्द अपनी निष्कलुष, सहज और आत्मीय ईमानदारी से भव्य मानवीय प्रमाण छोड़ते हैं । मुक्तिबोध ऐसे लेखकों में से हैं, जो पूँजीवादी छद्म भरे वातावरण में भी शब्दों के प्रति मनुष्य की आस्था को एकबार फिर दृढ़ कर जाते हैं

सन् 42 में मार्क्सवाद के प्रभाव में आने के अत्काल बाद मुक्तिबोध ने "प्रगतिवाद : एक दृष्टि" नाम से एक लेख लिखा था, जो अब "रचनावली" (पेपर बैक संस्करण) में छप गया है । इस लेख

1.

का ऐतिहासिक महत्व है । यह पहला लेख है जिसमें प्रगतिवाद के महत्व को सीधे सीधे रेखांकित किया गया है । मुक्तिबोध के अनुसार "जीवन दृष्टि से प्रगतिवाद आज तक की सबसे ऊँची मंजिल है, और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें जीवन को अधिक मूर्त रूप में ग्रहण किया गया है ।"[1] इसी लेख में यह भी कहा गया है कि "प्रगतिवाद एक निश्चित दार्शनिक एटीट्यूड उत्पन्न करता है, जो न "स्व" से अधिक बाह्य को और न बाह्य से अधिक "स्व" को महत्व देता है । वह कहता है कि इन दोनों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया से विकास होता आ रहा है ।"[2]

उल्लेखनीय है कि मार्क्सवाद पदार्थ और चेतना दोनों को महत्व देता है, लेकिन उसकी नजर में पदार्थ की स्थिति प्राथमिक है और चेतना की द्वितीयक । मार्क्सवाद स्व और बाह्य को बराबर महत्व नहीं देता । मुक्तिबोध का यह कहना कि प्रगतिवाद स्व और बाह्य को बराबर महत्व देता है, गलत है ।

"साहित्य और समाज" लेख प्रगतिवादी दृष्टि बिन्दु से लिखा गया है, किंतु सीधे प्रगतिवाद पर नहीं ।[3] वस्तुतः मुक्तिबोध का सारा लेखन प्रगतिवादी दृष्टि-बिन्दु से संचालित है । नयी कविता पर विचार करते हुए उन्होंने अनेक ऐसी समस्याओं पर चिंतन किया है,

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, पेपर बैक, पृ० 30-31.
2. वही० पृ० 31.
3. देखें अध्याय - 1.

जिनका संबंध परोक्ष रूप में प्रगतिवादी साहित्य से बनता है । फिर भी कुछ ऐसे लेखों को अलग किया जा सकता है, जो प्रगतिशील लेखन के दौरान उत्पन्न हुए वाद-विवादों के संदर्भ में लिखे गये हैं । ऐसे लेख नयी कविता की किसी मान्यता का खंडन करते हुए नहीं, बल्कि प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं पर केंद्रित हैं । लेकिन सबसे पहले एक ऐसे लेख पर चर्चा करेंगे, जिसमें मुक्तिबोध ने प्रगतिशील आलोचना पर खुलकर टिप्पणी की है । यह लेख सन् 55 में लिखा गया था, और शीर्षक था "प्रगतिशीलता और मानव सत्य" ।

मुक्तिबोध ने इस लेख में प्रगतिशील साहित्य के सम्मुख मौजूद दो प्रकार की चुनौतियों का उल्लेख किया है । पहली तो यह कि प्रगतिशील साहित्य को आगे बढ़ने के लिये पुराणपंथियों से संघर्ष करना पड़ेगा । पुराणपंथियों से उनका तात्पर्य " उन सभी सज्जनों से है जिनका सौजन्य सामान्य जन की बौद्धिक सामाजिक राजनैतिक मुक्ति के आड़े आता है ।"[1]

प्रगतिवादी साहित्य के सामने दूसरी समस्या ऐसे प्रगतिशील आलोचक-नेताओं की ओर से आती है, जिनका वर्गाधार उच्चमध्य-वर्गीय है । ये ऐसे लोग हैं जिनकी इच्छा, ज्ञान और क्रिया में कोई सामंजस्य नहीं है । विचार और कार्य में तो प्रगतिशील, किंतु वास्तविक जीवन में उच्च मध्यवर्गीय दृष्टि और प्रणाली के रूप । ऐसा व्यक्ति "अपने मानसिक स्वार्थों की दृष्टि से अन्यों में विसंगतियाँ

---

1. देखें, अध्याय -1.

का आरोप कर लेता है । मनुष्य की मनोवैज्ञानिक स्वार्थ बुद्धि ऊँचे आदर्शों को आगे करके उनके झंडों के नीचे काम करती है । उनके मंदिर में बैठ अपना शिकार करती है, अपना धंधा करती है । इसीलिये वह अपनी पूर्ति के लिये, सामंजस्य या संगति अथवा ऐसे ही किसी आदर्श की कल्पना को व्यक्ति पर यांत्रिक रूप से लागू कर सकती है ।"[1] "थियरी में मन-वचन-कर्म के सामंजस्य अथवा व्यक्तित्व की संगति की बात करना सहज भी है आवश्यक भी है । किंतु उसी थियरी को दूसरों पर लागू करते वक्त कितनी मर्मज्ञ विश्लेषणा शक्ति और ज्ञान-क्षम संवेदन बुद्धि की आवश्यकता है, कितनी सहानुभूति क्षमता की जरूरत है, यह किसी से छिपा नहीं है ।"[2] मुक्तिबोध के अनुसार प्रगतिवादी "नेतृत्व की कमजोरी ने हिन्दी के वास्तविक प्रगतिशील साहित्य के और आगे विकास में बाधा उपस्थित की है और उनके अनेक व्यक्तिगत दुराग्रहों ने (जिस पर मार्क्सवाद का मुलम्मा चढ़ाया जाता है) उसका गला घोंटने में कोई कसर नहीं रखी है ।"[3]

वास्तविक प्रगतिशील साहित्य से मुक्तिबोध का क्या आशय है, इसका संकेत इसी लेख में दे दिया गया है : अपनी बिकी हुई मेहनत, बेसहारा जिन्दगी की आकांक्षाएं, सामाजिक उलझनों से होने वाला मानसिक तनाव, स्थिति परिस्थिति की क्रिया-प्रतिक्रियात्मक संवेदनाएं आदि अपने में सम्मिलित करने वाला विचार-वेदना-मंडल

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 71.
2. वही0 पृ0 71.
3. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 65-66.

जब लोक-मुक्ति की नयी अवधारणा से और भी संवेदनामय हो जाता है, जब जिस साहित्य का आविर्भाव होता है, उसमें महान मनुष्य-सत्य होता है।"[1] इस महान सत्य का विरोध करने वालों में ऐसे प्रगतिशील महानुभाव भी हैं, "जो भाव क्रांतिकारी शब्दों का शोर खड़ा करने वालों के हिमायती के रूप में अपने सिद्धान्तों की यांत्रिक चौखट तैयार रखते हैं -- जो उसमें फिट हो जाय वह प्रगतिशील, जो उसमें ठकठ कसा न जा सके, वह प्रगतिविरोधी। यह उनका प्रत्यक्ष, परोक्ष, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, मुखर और गोपनीय निर्णय होता है।"[2] इसका कारण ये है कि "ये लोग उत्पीड़ित मध्यवर्ग के जीवन तत्वों से दूर अलग अलग होते हैं। भले ही ये लोग शाब्दिक रूप से गरीबों के कितने ही हिमायती क्यों न हों, उनका व्यक्तित्व स्वयं ही आत्मबद्ध, अहंग्रस्त महत्वाकांक्षाओं का शिकार और रागद्वेष की बहुमुखी प्रवृत्तियों से निपीड़ित होता है। बोधहीन बौद्धिकता का शिकार यह वर्ग जिस संवेदनामय कविता की आलोचना करता है, उनकी संवेदनाओं की मुख्य आधार भूमिका यह हृदयंगम नहीं कर सकता।"[3] इसलिये ये "ऐसे लोगों को ही प्रगतिवादी समझते हैं, जो उनकी राजनैतिक शब्दों वाली परिभाषा की कविता करते हैं।"[4]

मुक्तिबोध के इस वक्तव्य से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं --

1. यह कि निम्नमध्यवर्ग का लेखक यदि अपने वर्ग की समस्याओं

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 65.
2. वही0 पृ0 65.
3. वही0 पृ0 65-66.
4. वही0 पृ0 66.

को लोक मुक्ति की नयी भावधारा से सम्पृक्त करके वाणी प्रदान करता है, तो उसे प्रगतिविरोधी नहीं घोषित कर देना चाहिए ।

2. किसान मजदूर को आधार बनाकर एक खास ढर्रे और शैली में लिखी गयी समाम कविताएं नकली हैं । उनमें गहराई नहीं है । अगर ऐसा न भी हो तो इससे यह निकालना एक खास तरह का संकीर्णतावाद होगा कि प्रगतिशील कविताएं वही हैं, जो किसानों-मजदूरों पर लिखी जाँय।

3. एक खास काट और शब्दावली की कविताओं को ही प्रगतिशील मानना बिल्कुल गलत है । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रगतिवादी दौर में ऐसे आग्रह मौजूद थे । यही नहीं सत्तर के बाद के "जनवादी कविता" के दौर में ऐसे आग्रह एक बार फिर बद्धमूल हो गये थे । मानो ऐसी ही कविताओं को स्मरण करते हुए मुक्तिबोध ने रचनाकार का "मानवतावाद" लेख (सन् 59-64) में लिखा था -- "ये लोग मानव, मानवता, संघर्षशील मानवता, मुक्ति संघर्ष, जनवाद, किसान-मजदूर क्रांति, आदिशब्दों का प्रयोग करते थे और विभोर होकर भक्तिभाव पूर्वक उन सब तत्वों का प्रतिपादन भी करते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि, जैसा कि दिखायी देता था, उनकी विभिन्न कल्पनाएं अतिसरलीकरण पर आधारित हो गयी थी । जिन्दगी की पेचेदगियों पर ध्यान न लाकर सामान्य विशेषताओं पर ही उनकी दृष्टि टिक जाती थी । इसलिये उनका प्रगतिशील मानव-मूल्यों की स्थापना के लिये जूझ पड़ता है । उसके हृदय में कहीं भी

कोई शंका, अपने लिए व्यक्तिगत सुख के संबंध में कोई चिंता अथवा परिस्थितियों से घबराहट नहीं थी -- यद्यपि यह साफ था कि वास्तविक 'प्रगतिशील' मनुष्य जो हमें काम करते दिखायी देता है, प्रगतिशील कविता में दिखायी देते रहे=हैं= प्रगतिशील मानव से कहीं अधिक उलझाव भरा, कमजोर, और विविध पक्षीय रुझान रखने वाला मनुष्य है ।..... साथ ही उसका केवल एक ही पक्ष सामाजिक राजनैतिक पक्ष ही सामने आता था, दूसरे पक्ष नहीं ।"[1]

जैसा कि मुक्तिबोध ने स्वयं ही लिखा है कि "यह सब कहने का तात्पर्य किसी व्यक्ति को नीचा दिखाना नहीं है, अथवा हिन्दी के प्रगतिशील आंदोलन की महत्वपूर्ण सफलताओं को नज़रंदाज करना नहीं है । इन सफलताओं का एक कारण ये नेता स्वयं भी हैं, इसमें कोई शक नहीं । और जो लोग रागद्वेष की अहंग्रस्त भावना से आक्रमण करते हैं, उनके प्रधान निंदकों में हम स्वयं हैं ।"[2] इसीप्रकार प्रभाकर माचवे की "समीक्षा की समीक्षा" पुस्तक की समीक्षा करते हुए (सन् 54) मुक्तिबोध ने लिखा है कि "माचवे जी, रामविलास शर्मा पर काफी बिगड़े हैं । किंतु उनकी शक्ति, उनकी महत्वपूर्ण पुस्तकों (जो हमारे समीक्षा साहित्य की निधि हैं) पर वे मौन हैं । ..... माचवे जी को यह भी चाहिये था कि वे रामविलास शर्मा जी की क्षमताओं का भी विशद-निरूपण करते, जैसा कि उन्होंने नहीं किया है।"[3]

बहुधा के मार्च, 60 अंक में गोरखनाथ का लेख छपा था । श्री गोरखनाथ की मुख्य स्थापना यह थी कि आम मार्क्सवादी साहित्य

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 369-70.
2. वही0 पृ0 66.
3. वही0 पृ0 421.

सौंदर्य पक्ष की अवहेलना करता है । इसके जवाब में मुक्तिबोध ने उसी पत्रिका में "मार्क्सवादी साहित्य का सौंदर्य पक्ष" नाम से एक लेख लिखा था । इस लेख का महत्त्व यह है कि इसमें मार्क्सवाद के प्रभाव में लिखे जाने वाले साहित्य के संबंध में फैलाई जा रही अफवाहों का खंडन किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्तिबोध के मन में प्रगतिशील साहित्य के विकास को लेकर कितनी ललक थी । यहीनहीं वे तो प्रगतिवादी आंदोलन को फिर से चालू करने के बारे में भी सोच रहे थे । डा० नामवर सिंह को लिखे गये पत्र में वे लिखते हैं -- शुरू शुरू में तारसप्तक के प्रकाशन के अनन्तर ही प्रगतिशील क्षेत्र में नयी कविता को बड़ी गालियाँ पड़ी । आलोचना आवश्यक थी, विरोध आवश्यक नहीं था । खैर यह पिछली बात हुई । हुई गई । लिखने का कारण यह है कि आगे चलकर क्या इस आंदोलन को फिर से उठाना जरूरी नहीं, विशेष संशोधनों के साथ - यह सवाल दरपेश है । क्या आजकल यह बिल्कुल असंभव हो गया है ? इस पर आप सोचियेगा और यदि संभव हो तो मुझे भी बताइएगा ।"[1]

इसी प्रसंग में श्रीपाद अमृत डांगे को लिखे पत्र को भी लिया जा सकता है । इसमें प्रगतिवादी आंदोलन की कमियों और सीमाओं का उल्लेख करते हुए उसे नये सिरे से शुरू करने का आग्रह किया गया है ।

"आधुनिक काव्य की चिंताजनक स्थिति" (सन् 51) में भी प्रगतिशील कविता पर विचार किया गया है । तत्कालीन प्रगतिशील

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, (पेपर बैक) खंड 6, पृ० 346.

कविता की स्थिति पर लिखा गया यह लेख अपनी सानी नहीं रखता । सच तो यह है कि सत्तर के दशक की "जनवादी" कविता को यदि ध्यान में रखें तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है । वस्तुतः यह लेख अपने समय की ही नहीं, बल्कि आज की भी तमाम जनवादी कविता पर सटीक टिप्पणी है । लिखा है कि "जनजीवन के क्रांतिकारी अभिप्रायों को वास्तविक जनजीवन के दृश्य से हटाकर उनके सामान्यीकरणों....... की कविता हिन्दी में होती है । जैसे धरती का प्रतीक लेकर जनजीवन की प्रशस्ति की रचनाएं, अथवा किसानों मजदूरों की क्रांतिकारी हैसियत के पुरजोश तराने । बिला-शक ऐसी कविताएं जरूरी हैं, किंतु चूँकि ऐसी कविताएं करना अपेक्षाकृत आसान है, और चूंकि ~~टेक्कि-कवि~~ इस ढरें पर अनेक कविताएं और भी लिखी जा सकती हैं...... इसलिये कौन वास्तविक जीवन की मूर्ति खड़ी करे । जैसे गरीब स्त्री अपने बच्चे को सुलाती हुई लोरी गा रही है और सब उसकी आँखों में जीवन दृश्य तैर रहे हैं । कौन इस थीम को अंकित करे । तकलीफ होती है । एक वृद्ध पिता अपने नाती को जीवन संघर्ष में वफादार रहने की बात करता है....... एक माता अपने क्रांतिकारी पुत्र की आँखों में भावी नवजीवन के सपनों की मूर्ति की तस्वीर देखती हुई पुलकित हो जाती है । कौन उस पुलक का अंकन करे, तकलीफ..... । एक मित्र अपने दूसरे मित्र की भयानक तकलीफ से पीड़ित होकर वर्तमान जिन्दगी की तस्वीर अपनी आँखों में बसाता है । कौन इसका चित्रण करे तकलीफ..... । गोया आसानी से हो जाय तो ठीक, नहीं तो ऐसी की तैसी ।"[1]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 289.

मुक्तिबोध के विचार मे काव्य में दो तरह की अतिरेक देखने को आते हैं -- "।। भावानुभवों के अनेकश: प्राप्त क्षणों का इस प्रकार सामान्यीकरण कि जिससे उन क्षणों की विशिष्ट प्रसंगबद्धता नष्ट होकर, केवल एक मानसिक वातावरण ही का, मात्र एक दृष्टि या मन:स्थिति के अंतर्गत किसी धंधे या कुहरे का ही चित्रण करके बात समाप्त कर दी जाती है, अथवा ।2। भाव इतना अधिक प्रसंगबद्ध होकर, विशिष्ट और विशिष्ट होकर इतना आत्मग्रस्त हो जाता है कि पाठक को अपने संवेदनात्मक अनुभवों का बार बार प्रयोग करने पर भी, उस यथार्थ का आकलन नहीं हो पाता ।"[1] इसलिये "विशिष्ट ..... जनजीवन दृश्यों में जनजीवन के अभिप्रायों के सामान्यीकरण ... की अनुगुंज जरूरी है । इन दोनों अभिप्रायों के मिश्रण से ही पाठक को अपने जीवन भाव और अभिप्राय समझ में आयेंगे । और इस प्रकार उसके हृदय में कठोर यथार्थ और हिम्मत, शक्ति और मस्ती का योग होगा । विशिष्ट को छोड़कर सामान्य मे वह बल नहीं आ पाता, जो जिन्दगी में चट्टानी हिम्मत, भुजाओं में फौलादी ताकत, दिल में इन्सानियत का लहराता समुद्र ला सके । इस प्रकार जनजीवन का ज्ञान, जनजीवन के अभिप्राय और उसकी आत्मशक्ति का मेल जब तक हम अपने सुख-दु:ख से न कर केवल अमूर्त निराकार वैचारिक स्तर पर ही घुमाते रहेंगे, तो सामान्य विशिष्ट का स्वर नहीं हो पायेगा । काव्य में विशिष्ट के साथ साथ सामान्य रहे तो जीवन-दृश्य और उनका आघात ठीक ठीक रहेगा ।"[2]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 457.
2. वही0 पृ0 289.

इससे यह न समझना चाहिए कि मुक्तिबोध विचारात्मक कविता के विरोधी हैं । यह जरूर है कि वे ऊपरी निराकार वैचारिक स्तर पर घुमाने वाली केवल कविताओं को महत्व नहीं देते । जैसा कि पूर्व वाले लेख में उन्होंने लिखा है --- "जहाँ जिस क्षेत्र में जीवन-ज्ञान से युक्त भावना का प्रकाशपूर्ण आधार है, वहाँ विचारात्मकता प्रभावोत्पादक हो उठती है । उस परिस्थिति में कि जब भावना का प्रत्यक्ष रसाद्र आधार नहीं है, किंतु सुस्पष्ट जीवन तथ्यों के ठोस संदर्भ प्रदत्त और मूर्तिमान कर दिये गये हैं, वहाँ प्रभावोत्पादक संदर्भों से निष्कर्षित विचारात्मकता भी प्रभावोत्पादक हो जाती है । किंतु जहाँ ... केवल वैचारिक ऊहापोह हो रहा है, वहाँ वैचारिकता काव्य रहित हो जायेगी ।"[1]

साहित्य शास्त्र और सिद्धान्त - निर्माण --

सन् 58 में लिखा गया "आत्मबद्ध आलोचना के खतरे" लेख । की मान्यताओं को देखें तो नयी कविता के काव्य सिद्धान्तों पर भी लागू किया जा सकता है, किंतु लगता है कि यह लेख मुख्यतः प्रगतिवादी समीक्षा की सीमाओं को उद्घाटित करने के लिये लिखा गया है । साहित्य शास्त्र के प्रसंग में सिस्टम-मेकिंग कैसी कैसी दिक्कतें पैदा कर सकता -- इसी का विवेचन इस लेख में हुआ है । मुक्तिबोध के मुताबिक "प्रश्न यह है कि विशिष्ट कैसे उत्पन्न और विकसित होता है । पुराने सामान्यीकरण कैसे गड्ड मड्ड हो जाते हैं ? उन सामान्यी-

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 453.

करणों पर आधारित सौंदर्य संबंधी परिकल्पनाएं कैसे अनुचित और असंगत हो उठती हैं । इस प्रकार प्रश्न एक विशेष प्रसंग में उठते हैं । काव्यधारा जब बदलने लगती है अथवा अनेक अभिव्यक्ति पद्धतियाँ जब प्रकट होने लगती हैं, तब उनमें प्राप्त जो विशिष्ट तत्व हैं या विशिष्ट रूप रेखाएं हैं, जो अब किसी भी काव्य सौंदर्य संबंधी परिकल्पना के भीतर जो मूलभूत सामान्यीकरण हैं, उन सामान्यीकरणों के क्षेत्र के भीतर सामान्य रूप से प्राप्त समान तत्वों में से नहीं थी .... जिन तत्वों का सामान्यीकरण हुआ है, उन तत्वों में से वे नहीं थीं ।"[1]

मुक्तिबोध का ख्याल था कि भावबाद कई रूपों में सामने आता है, कभी कभी वह जड़ भौतिकवाद का भी बाना धारण कर लेता है । ऐसी दशा में रचना या किसी देश-काल का ख्याल किये बगैर कुछ "सिद्धान्तों" । राजनीतिक या साहित्यिक । की माला फेरी जा सकती है । देशकाल या किसी रचना का अध्ययन किये बगैर लागू किये गये सिद्धान्त उस आकाशलता के समान होते हैं, जिसकी जड़ें जमीन में नहीं होती । इसलिए मुक्तिबोध ने लिखा कि "प्राक सामान्यीकरणजन्य सौंदर्य संबंधी परिकल्पनाओं को कलाकृति पर न लादें । ..... आलोचक को सबसे पहले विश्लेषण करने वाला व्याख्याकार होना अत्यावश्यक है, मूल्य निर्णय वह बाद में दे ।"[2]

हम जानते हैं कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है, वह किसी भी वस्तु में निहित विशिष्ट और सामान्य दोनों पक्षों को स्वीकृति प्रदान करता है । विशिष्ट के अध्ययन के आधार पर ही सामान्यीकरण किये जाते हैं, नियम निकाले जाते हैं । इन नियमों की सहायता से

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खं० 5, पृ० 80.

2. वही० पृ० 81.

नैये उत्पन्न हुए विशिष्टों का अध्ययन किया जाता है। विशिष्ट और सामान्य के बीच यह क्रिया द्वन्द्वात्मक हैं। और फिर मार्क्सवाद "गाइड टु एक्शन है, डाग्मा नहीं"। मुक्तिबोध का आग्रह आगमन और निगमन की वैज्ञानिक पद्धति को साहित्य-समीक्षा में लागू करने का था। लिखा है कि ""कला संबंधी समस्याओं को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना आवश्यक है। तभी ... रचना प्रक्रिया के वैविध्य पर दृष्टि रखकर उनके स्वरूपों की विशिष्टताओं का विशदीकरण किया जा सकता है, जिससे कि उन सब में तथा पूर्वयुगीन रचना प्रक्रियाओं में जो भी सर्वसामान्य है उसका आकलन और विश्लेषण, और उसके अलावा जो विशिष्ट है, प्रवृत्ति-विशिष्ट, व्यक्ति-विशिष्ट -- उन सब की व्याख्या और विश्लेषण किया जा सके।"[1]

आलोचकों की आत्मबद्धता का कारण जड़ी भूत सौंदर्याभिरुचि हैं। यह जड़ीभूत वास्तविक जीवन से दूर पड़ जाने की वजह से पैदा होती है। कभी कभी विचारक अनजाने ही ऐसे "सेंसर्स" विकसित कर लेते हैं, जिसके मुताबिक एक खास काट की कविता ही सच्ची कविता लगती है। इसलिये नयी काव्य प्रवृत्ति को समझने के लिये इन "सेंसर्स" को तोड़ना आवश्यक है।

जनता का साहित्य --

मुक्तिबोध का तीसरा उल्लेख्य लेख "जनता का साहित्य किसे कहते हैं" है। यह सन् 53 में लिखा गया था। इस लेख का उद्देश्य

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 81.

प्रगतिवादी खेमे में मौजूद उस मान्यता का खंडन करना था जिसके अनुसार जनता का साहित्य ऐसा होना चाहिये जो तुरत समझ में आ जाय। अगर जनता का साहित्य क्रांति की सेहत के लिए "तेज असर और गुणकारी" भी न हुआ तो फिर किस काम का। ऐसी ही बद्धमूल-धारणाओं का खंडन करने के लिये मुक्तिबोध ने लिखा -- "जनता का साहित्य" का अर्थ जनता को तुरंत ही समझ में आने वाले साहित्य से हरगिज नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता मैना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अंदर सांस्कृतिक भाव होते हैं ..... उस अभिलषित को पाने के लिये जिसका नक्शा साहित्य में रहता है। सुनने और पढ़ने वालों की कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वह स्थिति है उसकी शिक्षा, उसके मन का परिष्कार। .... यही कारण है कि मार्क्स का "दास कैपिटल", लेनिन के ग्रंथ, रोम्यारोला के, तॉलस्तोय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षितों और असंस्कृतों के न समझ में आ सकते हैं, न वे उनके पढ़ने के लिये होते हैं।"[1]

साहित्य की दो श्रेणियाँ होती हैं -- "कुछ साहित्य तो निश्चित ही प्रारम्भिक शिक्षा के अनुकूल होगा तो कुछ सर्वोच्च शिक्षा के लिये। प्रारम्भिक श्रेणी के लिये उपयुक्त साहित्य तो साहित्य है, और सर्वोच्च श्रेणी के लिये उपयुक्त साहित्य जनता का साहित्य नहीं है, यह कहना जनता से गद्दारी करना है।"[2] कुछ लोगों को लग सकता है कि यह बात मुक्तिबोध अपनी रचनाशीलता के बचाव में लिख रहे हैं। ऐसे सज्जन माओत्से तुंग के इस कथन पर ध्यान दें -----

---

1. मुक्तिबोध रचना0ली, खंड 5, पृ0 60.
2. वही0 पृ0 60.

"स्तर उन्नत करने के एक ऐसे काम के अलावा जो आम जनता की जरूरतों को प्रत्यक्षरूप से पूरा करता है, स्तर उन्नत करने का एक ऐसा भी काम है, जो आम जनता की जरूरतों को अप्रत्यक्ष रूप से पूरा कर सकता है, अर्थात स्तर उन्नत करने का एक ऐसा काम जिसकी हमारे कार्यकर्ताओं को आवश्यकता होती है .... उनके लिये अपेक्षाकृत उन्नत स्तर का कला-साहित्य निहायत जरूरी है ।"[1]

मुक्तिबोध के शब्दों में "जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन-मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिसंघर्ष-पथ पर अग्रसर करता हो ..... जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श मनोरंजन से लगाकर..... मानवीय भावना का उदात्त वातावरण उपस्थित करने वाला..... मन को मानवीय और जन को जन जन करने वाला ..... शोषण और सत्ता के दंभ को चूर करने वाला स्वातंत्र्य और मुक्ति गीतों वाला साहित्य ।"[2]

प्रगतिवादी आलोचक - नेता और उनकी सीमाएं --

प्रगतिशील आलोचक नेताओं के बारे में मुक्तिबोध ने सन् 55 में लिखा था --- "मनुष्य के जीवन के भव्य संवेदनात्मक सत्यों के प्रति उनमें आवश्यक नम्रता भी नहीं है । न इतनी आस्था है

---

1. संकलित रचनावली, खंड 5, पृ0 154.
2. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 60-61.

कि वे ये मानें कि युग सत्य विभिन्न रूपों और विभिन्न आकारों में, विविध विचारों और भावनाओं में वलयित होकर आज की कष्ट ग्रस्त मानवता के हृदय में अधिष्ठित है । इस आस्थाहीनता के कारण ही उनके द्वारा समर्थित कविता में सम्पूर्ण मनुष्य की गौरवपूर्ण नीतिमत्ता, सर्वांगीण मानवीय पक्ष की भव्य दृश्य, सुकुमार भावनाओं की मनुष्योचित गरिमा दिखायी नहीं देती, वरन् पिटी-पिटाई क्रांतिकारिता का सभागंधी आत्म प्रदर्शन दिखायी देता है ।....... कहने का तात्पर्य किसी व्यक्ति को नीचा दिखाना नहीं है, अथवा हिन्दी के प्रगतिशील आंदोलन की महत्त्वपूर्ण असफलताओं को नजरंदाज करना भी नहीं है ।"[1] सन् 60 में उनका विचार है कि "प्रगतिवाद ने मनुष्य जीवन का केवल ह राजनैतिक पक्ष उठाया, उसने सम्पूर्ण मनुष्य को अपना काव्य-विषय नहीं बनाया ।"[2]

सन् 63 में मुक्तिबोध अपना प्रसिद्ध लेख "समीक्षा की समस्यायें" लिखते हैं । यह लेख दोधारी तलवार की तरह है । इसकी एक धार नयी कविता के अज्ञेयवादी सिद्धान्तों को काटती है, तो दूसरी प्रगतिवादी समीक्षकों के दुराग्रहों को । यह मुक्तिबोध के अंतिम लेखों में से एक है, इसलिये इसका महत्व और भी बढ़ गया है । इस लेख में भी प्रगतिवादी आलोचकों की जड़ता पर प्रहार किया गया है । उनकी सीमाओं को रेखांकित करते हुए मुक्तिबोध ने जो बातें कही हैं, उन्हें तीन सूत्रों में संक्षिप्त किया जा सकता है ।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 65.
2. वही0 पृ0 195.

1. समकालीन साहित्य से अलगाव ।
2. आम आदमी के जीवन से अलगाव ।
3. साहित्य की स्थूल और जड़सूत्री समझ ।

अपने "काव्य : एक सांस्कृतिक प्रक्रिया लेख में मुक्तिबोध ने लिखा था कि प्रगतिवादियों ने मनुष्य को केवल राजनीतिक संदर्भ में लिया है, उसकी सम्पूर्ण मूर्ति वे सामने नहीं लाये । "समीक्षा की समस्यायें" में वे लिखते हैं कि "प्रगतिवादियों के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता था कि वे मुक्तिसंघर्ष, राष्ट्रप्रेम, प्राकृतिक सौंदर्य, नारी सौंदर्य, यथार्थ आलोचना-भावना, आशा, उत्साह तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं । किंतु शेष सब भावनाएं, जैसे भयानक ग्लानि, निराशा, अनाशा, वैफल्य तथा इसी श्रेणी की अन्य भावनाएं प्रतिक्रियावादी हैं । .... इस प्रकार यह लगता था मानो ० यह योजनाबद्ध विभाजनीकरण हो ।"[1]

यहाँ मुक्तिबोध की आपत्ति यह नहीं है कि प्रगतिवाद ने मनुष्य को केवल राजनीतिक अर्थ में लिया, बल्कि यह है कि उसने भावनाओं का इस तरह विभाजन कर दिया जिसमें कुछ भावनाएं प्रगतिशील मानी गयीं और बाकी प्रतिक्रियावादी ? जबकि मुक्तिबोध के विचार में "कोई भावना न अपने आप में प्रतिक्रियावादी होती है, न प्रगतिशील । .... वैफल्य और निराशा किन जीवन संबंधों के आधार पर है ? उस निराशा की जन्म भूमि जो मानव जीवन है,

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 129-30.

उसको ध्यान में रखकर ही, उसका विश्लेषण और मूल्यांकन किया जा सकता है ।"[1] सच तो यह है कि "जिस लेखक के काव्य में जितनी ही अधिक दुखात्मक अनवस्था व्यक्त होती है, उसे मानवीय सहानुभूति और प्रेम की उतनी ही आवश्यकता होती है ।"[2] हम जानते हैं कि लूशुन के साहित्य में अवसाद का एक महिम स्वर बजता रहता है, लेकिन इसी से वे प्रतिक्रियावादी नहीं हो जाते ।

मुक्तिबोध मानते थे कि "मार्क्सवाद यदि एक विज्ञान है (जैसा कि वह है), तो ऐसी स्थिति में उसके लिये तथ्यानुसार - जीवनजगत और काव्यगत, दोनों एक साथ -- प्राथमिक और प्रधान महत्व रखता है ।"[3] कहते हैं कि एक बार माओत्से तुंग ने अनुभववादी घोषित कर दिये जाने की हद तक खतरा मोल लेते हुए कहा था कि यदि आप ठोस वस्तुस्थिति से वाकिफ नहीं हैं तो फालतू में सैद्धान्तिक ज्ञान न बघारें । ठोस-परिस्थितियों - राजनीतिक या साहित्यिक -- के विश्लेषण से आगे बढ़ने और उस संदर्भ में अपने सिद्धान्तों से संकेत ग्रहण करने, उन्हें विकसित करने की बात मार्क्सवाद सम्मत है । 1905 की क्रांति के अभूतपूर्व किंतु अप्रत्याशित रूप से चौकन्ने होकर लेनिन ने लिखा था कि व्यवहार-सिद्धान्त से एक कदम आगे होता है । इस एक कदम को जितनी जल्दी हो सके अपने सिद्धान्त की अंतर्धारा में शामिल कर लेना चाहिये । मुक्तिबोध के शब्दों में "विचारधारा से प्राप्त सत्य मूलत: यथार्थ का संभाव्य

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 130.
2. वही0 पृ0 136.
3. खुद वही0 पृ0 133.

रूप से । निकटतम चित्र है । किंतु और निकट पहुँचने की आवश्यकताएं और संभाव्यताएं बढ़ती ही जाती हैं । इसलिए सैद्धान्तिक विकास भी आवश्यक होता है । .... ज्ञानकाल सापेक्ष ही नहीं, स्थिति सापेक्ष हो ता है । ..... और उस स्थिति के भीतर केवल वर्गीय और सामाजिक स्थिति ही नहीं, वरन् व्यक्ति के अपने निज-विशिष्ट स्थान का भी समावेश होता है ।"[1] ऐसा न करने पर सिद्धान्त और वास्तविकता की खाई बढ़ जाती है और अपने पुराने ढाँचे में नये को फिटता न देख उसे कोरमकोरे प्रतिक्रियावादी घोषित करना पड़ता है । मुक्तिबोध ने ऐसे सैद्धान्तिक आलोचकों से सविनय विवेदन करते हुए लिखा है कि "मेरा अभी भी विश्वास है कि यदि अभी भी वे सिद्धान्तों के टावर से। नीचे उतरें, और नदी के कगार पर खड़े होकर उसके बाकि .... तिरछे बहे जाने को उतना न कोसें, वरन् स्वयं उसका सर्वांगीण समीक्षण करें तो, उन्हें उसमें उतनी बुराई नहीं दिखेगी ।"[2]

मुक्तिबोध के ख्याल में "प्रगतिवादियों ने कलाकार के दायित्व के प्रश्न को सामने उपस्थित कर लेखक के अंत:करण को, वस्तुत: नये प्रगतिवादी संस्कार देना चाहे थे । किंतु उन्होंने यह काम इतने भद्दे ढंग से किया कि उसका बहुत कुछ प्रतिकूल परिणाम हुआ ।"[3] क्योंकि उन्होंने लेखक की सर्जनात्मक और समाजीकरण की समस्या को ठीक से समझा ही नहीं । इन सारी कमियों की वजह से प्रगतिवाद का

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 145.
2. वही0 पृ0 130.
3. वही0 पृ0 147.

प्रभाव लेखकों पर धीरे धीरे क्षीण होता गया । "प्रगतिवादी समीक्षकों की इस असफलता का दोष मुख्यत: -- हाँ मुख्यत:, एक मात्र रूप से -- प्रतिक्रिया के सिर मढ़ना बिल्कुल गलत है अनुचित और भ्रामक है । इस प्रभाव-क्षय के कारणों के मूल बीज प्रगतिवादियों की समीक्षा की अपूर्णता में पहले से विद्यमान थे ।"[1] क्योंकि "वर्षानुवर्ष निर्मित होने वाले साहित्य की उन्होंने ..... ऐसी कलासमीक्षा प्रस्तुत नहीं की जो कलाकृतियों के सभी पहलों पर समान रूप से प्रकाश डालती हो, ऐसी समीक्षा जो साहित्य के आंतरिक तत्वों पर प्रकाश डालते हुए, कलाकार के व्यक्तित्व और उस व्यक्तित्व के माध्यम से समाज और युग की प्रवृत्तियों को निरूपित करती हो, ऐसी विस्तृत और भावगंभीर कला समीक्षा, जिसमें लगे हाथों साहित्य तथा कलात्मक सौंदर्य संबंधी प्रश्नों पर सर्वांश्लेषण विचार किया गया हो ।"[2]

ऐसा न होने पर समीक्षक के "सत्यवचन" सत्यनारायण की कथा जैसे मालूम पड़ते हैं, जिसमें यह बताया गया है कि फलाँ-फलाँ ने ने कथा नहीं सुनी तो उन्हें अमुक अमुक नुकसान उठाने पड़े, लेकिन वो वास्तविक कथा क्या थी, जो उन्होंने नहीं सुनी इसका कभी पता नहीं चलता । इसीप्रकार कई प्रगतिवादी समीक्षकों की समीक्षाओंने साहित्य के राजनैतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक संदर्भ और उसके प्रभाव की चर्चा तो खूब होती, लेकिन वास्तविक साहित्य पर कम ही विचार किया जाता । मुक्तिबोध के शब्दों में यदि "समीक्षा को फिर से

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 134
2. वही० पृ० 148.

प्रभावशाली होना है, तो केवल सत्यात्मक प्रवचनों से काम नहीं चलेगा, वस्तु वास्तविक साहित्य की सर्वांगीण समीक्षा करनी होगी ।" जबकि होता यह है कि "उसकी समीक्षा सामान्यीकरणों से शुरू होकर सामान्यीकरणों में समाप्त हो जाती है । ... चूँकि वह सामान्यीकरणों द्वारा .. केवल अपनी दृष्टि की स्थापना कर रहा है इसलिये उसे उन स्थापनाओं के प्रमाण के रूप में अपने संबंधित क्षेत्र से कुछ उदाहरण मिल ही जाते हैं । उसी क्षेत्र के अन्य तथा प्रतिकूल उदाहरणों से उसका कोई मतलब नहीं होता । इस प्रकार वह अपनी दृष्टि का वस्तुसंगत औचित्य स्थापित कर जाता है ।"[2]

इस तरह हम पाते हैं कि मुक्तिबोध ने जैसे भक्ति आंदोलन और कामायनी के प्रसंग में, वैसे ही सर्वत्र उद्धरणबाटी आलोचना का विरोध किया और कहा कि "किसी भी प्रवृत्ति विशेष के स्वरूप का अध्ययन तब हो सकता है, जबकि उस साहित्य-प्रवृत्ति की आंतरिक विशेषताओं के अध्ययन के साथ ही साथ, उस प्रवृत्ति के भीतर झलकती हुई व्यक्ति-स्थिति, वर्ग-स्थिति, समाज स्थिति और उन सबके परस्पर अंत:संबंध हम आत्मसात करें, और उन सबके स्वरूप का वस्तुगत विश्लेषण करते हुए, हम उस प्रवृत्ति विशेष का प्रतिनिधित्व करने वाली मुख्य मुख्य और कुछ गौण कलाकृतियों का सर्वांगीण अध्ययन करें, व्यापक जीवन-दृष्टि से ।"[3]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 152.
2. वही0 पृ0 152.
3. वही0 पृ0 152-53.

जैसा कि हमने दिखाया मुक्तिबोध ने प्रगतिवाद के ह्रास के कारणों में प्रगतिशील आलोचना की अक्षमता को बहुत महत्व दिया है, किंतु साथ ही अन्य दूसरे कारणों का भी उल्लेख किया है। लिखते हैं कि "निःसंदेह प्रगतिवादी विचारणा के भारतीय व्याख्याता पर्याप्त अपरिपक्व थे, और उनमें खूब मतभेद भी था। अंतर्दाह्य कारणों से प्रगतिवाद का प्रभाव वैसे ही क्षीण हो रहा था। नयी कविता के कुछ क्षेत्रों द्वारा किये हमले के बाद, उसका प्रभाव अत्यल्प हो गया।"[1] फिर भी यह सच है कि मुक्तिबोध ने प्रगतिवाद के ह्रास के राजनीतिक कारणों पर बहुत गंभीरता से विचार नहीं किया है।

प्रयोगवाद --

प्रयोगवाद के बारे में मुक्तिबोध ने अधिक नहीं लिखा है। प्रयोगवाद को कहीं कहीं नयी कविता के नाम से भी अभिहित किया गया है।

प्रयोगवाद के उदय के सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि राजनीतिक-सामाजिक परिस्थिति बदलने के साथ छायावादी काव्य की सार्थकता के समक्ष प्रश्नचिन्ह लगाये जाने लगे। वामपंथी और समाजवादी विचारों के प्रसार-

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 199.

प्रचार के बाद दो प्रकार के लेखक पैदा हुए -- "एक तो वे जो सीधे सीधे राजनैतिक विचार प्रवाह के साहित्यिक रूपांतर थे, और दूसरे वे जिन्होंने छायावादी साहित्यिक आदर्शों और मनोदशाओं के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियायें की थी । ये दूसरे प्रकार के लेखक सन् 1939 से ही छायावादी आदर्श भूमि को वैचारिक दृष्टि से त्याग रहे थे । उनका सबसे पहला महत्वपूर्ण विरोध सिर्फ इस बात को लेकर था । और वह यह कि छायावाद ने अर्थ भूमि का संकोच कर दिया है ।"[1] छायावाद के बारे में उसे लगता था कि "उसमें करुण का विलास है, उसकी तकलीफ नहीं है । लेकिन नयी कविता का कवि इस तकलीफ को आत्मकेन्द्री अर्थों में ही देख रहा था । वह इस करुणा की सामाजिक व्याख्या न कर पाता था । अतएव नयी कविता का जन्म छायावादी व्यक्तिवाद के विरुद्ध यथार्थोन्मुख व्यक्तिवाद की बगावत थी । यह बगावत इसलिये संभव थी कि देश की बिगड़ी हुई दशा में मध्यवर्ग के साधारण व्यक्ति का जीवन असह्य हो उठा था । ...नयी कविता की दूसरी बद्धमूल धारणा यह थी कि छायावाद जीवन के प्रश्नों को भावुकता प्रधान, कल्पनामूलक आदर्शोन्मुखी दृष्टि से देखता है ।.... जैसे स्त्री पुरुष संबंधों का आदर्शीकरण, किसान मजदूर जीवन का रोमैंण्टिक चित्रण ।जैसे पंत की ग्राम्या में। दुःख और करुणा का आदर्शीकरण ... । इस प्रतिक्रिया का फल यह हुआ कि नयी कविता जीवन की समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि से देखने और मिटाने के लिये छटपटाने लगी और उसकी चित्रण-पद्धति बौद्धिक हो उठी । यह बौद्धिकता उसके दृष्टिकोण तक सीमित न

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 317.

वरन् काव्य रचना का एक प्रमुख सर्जनात्मक तत्व बनकर सामने आयी ।"[1]

इस प्रकार नयी कविता में " । । बौद्धिकता के कारण यथार्थवादी आत्मचेतना और । 2 । व्यक्तिवाद का आत्मकेन्द्री स्वरूप अर्थात वास्तविक सुख-दुःख की सामाजिक पार्श्वभूमि और ऐतिहासिक शक्तियों के प्रति सघन रागात्मक संबंधों की क्षीणता पायी जाती है । ..... चूँकि नयी कविता यथार्थोन्मुख बौद्धिकता व्यक्ति और समाज के संपूर्ण प्रश्नों का उत्तर नहीं देसकती थी, इसलिये धीरे धीरे उसमें मार्क्सवाद का आना निश्चित था । तारसप्तक के प्रकाशन । सन् 1943 । तक उसके चार कवि प्रगतिवादी थे और दो कवि प्रगतिवाद से प्रभावित हुए । .... तारसप्तक के कवियों में, वर्तमान दुःस्थिति के भाव से ग्रस्त रहने की मनोदशा के कारण उत्पन्न नकारवादी नैराश्य मूलक निवेदन. राजनैतिक विरोध, सामाजिक व्यंग्य. व्यक्ति के भीतर के वास्तविक अंतर्विरोधों । जिनके स्पष्टीकरण का बहुत बड़ा सामाजिक महत्व है ।, व्यक्ति चेतना के आभ्यंतर विकेन्द्रीकरण । जो समाज में स्पष्ट लक्षित होता है ।, सामाजिक क्रांति के प्रतिनिष्ठा मनुष्य की उन्नयनशीलता के प्रति विश्वास और आस्था दृष्टिगोचर होती है ।"[2]

दूसरे सप्तक तक आते आते स्थिति और बदतर हो गयी । "जिन प्रश्नों को तारसप्तक में उठाया गया उनका विकास भी दूसरे

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 318.
2. वही० पृ० 318-19.

सप्तक में न हो पाया । ... दूसरा सप्तक में न इतना सामाजिक व्यंग्य है और न राजनैतिक विरोध और न इतनी विविड़ आत्मचेतना इसके विपरीत, उसमें मनोहर प्राकृतिक दृश्यांकन, निसर्ग सौंदर्य का अनेक रूपों में चित्रण, वातावरण के सुंदर रेखाचित्र और काव्य-शिल्प की रमणीयता के दर्शन होते हैं ।..... उनके काव्य-विषय भी अपेक्षाकृत सरल हैं । ..... प्रगतिशील प्रवृत्ति और राजनैतिक स्तर क्षीण है, वह भी सिर्फ गूँज भरा है ।"[1]

प्रयोगवाद नाम के बारे में मुक्तिबोध का ख्याल है कि "छायावाद के सार्वभौम एकछत्रता के वातावरण में, नये कवियों ने केवल नम्रता-प्रदर्शित करने के लिये अपनी कविताओं को प्रयोग कहा । वस्तुत: ये कविताएं प्रयोग न होकर साक्षात कविताएं थी । नयी कविता के विरोधियों ने निंदा के तुच्छभाव से प्रयोगवाद शब्द चला दिया ।"[2]

प्रयोगवाद पर मुक्तिबोध का जो दूसरा लेख है "हिन्दी काव्य की नयी धारा" उसमें वही सारी बातें दुहराई गयी हैं, जो "छायावाद और नयी कविता" में कही गयी थीं । सिवाय एक बात के । इस लेख में यह बताया गया है कि "ये कवि विचारधारा की दृष्टि से दो खेमों में बँटे हुए हैं । एक खेमा है सक्रिया प्रगतिशीलता विरोधी, जिसमें सर्वप्रमुख हैं श्री वात्स्यायन और धर्मवीर भारती आदि । दूसरे लोग प्रगतिवाद के पक्ष में हैं, जिसमें प्रमुख हैं

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 319.
2. वही0 पृ0 319.

गिरिजा कुमार माथुर, नेमि चन्द्र जैन, नरेश कुमार मेहता, भारत भूषण अग्रवाल आदि । बहुत थोड़े ऐसे हैं जो इन दोनों की कुछ कुछ बातें मानते हुए भी दोनों से थोड़े थोड़े दूर हैं । उनमें प्रमुख हैं श्री प्रभाकर माचवे, पण्डित भवानी प्रसाद मिश्र आदि ।

प्रयोगवाद के प्रति प्रगतिवादी समीक्षा की रुख --

"समीक्षा की समस्यायें" लेख में प्रगतिवादियों द्वारा प्रयोगवाद के कोरमकोर विरोध की आलोचना करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि --- "मनुष्य को केवल उसके सामाजिक राजनैतिक पक्ष में समझने और उपस्थित करने वाले इन लोगों ने, प्रयोगवादियों के अभ्युदयकाल में उन दुखपूर्ण और निराशापूर्ण, ग्लानि पूर्ण, अगतिकता की भावना प्रकट करने वाले, काव्य के वास्तविक अंत: संदर्भों को, और बाह्य संदर्भों को -- जीवन जगत संबंधी संदर्भों को -- समझने से इन्कार कर दिया । नये प्रयोगवादी काव्य के प्रति उनका यह शत्रुत्व-भाव चिरस्मरणीय रहेगा ।..... इसलिये कि उन्होंने मानव-दु:ख की अवहेलना की, मानव-पीड़ा के यथार्थ पर अलंकारपूर्ण पदाघात किया । उसको कुचलने की भरसक कोशिश की । उन्होंने ऐसे लेखकों और कवियों को अपने पास से उठाकर फेंक दिया, जो आधुनिक जीवन के अंतर्विरोधों से त्रस्त होकर काव्य रचना करते थे ।"[1]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड ५, पृ० 157.

नयी कविता --

मुक्तिबोध ने सबसे ज्यादा नयी कविता पर लिखा है । उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण लेखन नयी कविता के प्रसंग में हुआ है । जैसा कि हमने पहले लिखा था मुक्तिबोध के अनेक सैद्धान्तिक से लगने वाले लेख भी वस्तुतः नयी कविता के संदर्भ में लिखे गये हैं ।

नयी कविता और आधुनिक भावबोध --

जैसा कि हमने प्रयोगवाद के प्रसंग में दिखाया, मुक्तिबोध उसके प्रारम्भिक दौर को सार्थक मानते हैं । लिखा है कि प्रथम उन्मेषकाल में उसके पास आदर्शवाद था .... विषमताहीन समाज व्यवस्था का स्वप्न और व्यक्ति विकास की अनंत संभावनाओं का स्वप्न भी उसके पास था । फलतः यदि उसके काव्य में समाज के । वर्तमान पूँजीवादी समाज के। प्रति क्षोभ और कटु भावना थी तो दूसरी ओर वैकल्प का भान भी था । किंतु यह वैकल्प उसका व्यक्तिगत था । एक विशेष समाज, वर्ग और परिवार में पाये जाने वाले व्यक्ति के मानस का चित्रण उसमें हैं, उसमें एक मनोवृत्तांत है । उसकी उदासी और विपन्नता ... वास्तविक जीवन-संघर्षों से उत्पन्न है ।[1]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड ५, पृ० 326.

इसके बाद सन् 51 - 52 के आस पास हुआ यह कि प्रगतिवादी विचारधारा को काव्यक्षेत्र से खदेड़कर बाहर करने के लिये नयी कविता के कुर्सी से शीत युद्ध की गोलंदाजी की गयी । यह शीतयुद्ध मुक्तिबोध के लेखे विश्व में चल रहे राजनीतिक शीतयुद्ध की साहित्यिक शाखा के रूप में था ।[1] इस कार्यक्रम के तहत काव्यानुभूति और जीवनानुभूति की समांतरता, लघु मानव, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, क्षण्वाद आदि सिद्धान्त सामने लाये गये । मुक्तिबोध ने लिखा है " वास्तव: स्पष्ट दीखने वाली इस बात के पीछे एक स्पष्ट-अस्पष्ट राजनैतिक उद्देश्य था । वह यह कि कवि का काव्य-जीवन और वास्तविक जीवन, इन दो में अविच्छिन्नता और मौलिक एकता को कुहरिल कर दिया जाय । यह सिद्धान्त बहुत ही खतरनाक मान्यता है ।"[2] क्योंकि व्यापक जीवन संदर्भ एवं मानव समस्या को काव्य में लाने के लिये "हमें केवल तथाकथित सौंदर्यानुभूति के क्षणों के बाहर जाना होगा, और भाव का आधार बनने वाले ज्ञान का विस्तार करना होगा । केवल एक क्षण के उत्कर्ष का चित्रण करने के बजाय हमें लम्बी नजर फेंकनी होगी ।"[3] कुल मिलाकर निष्कर्ष यह कि "एक कला-सिद्धान्त के पीछे एक जीवन दर्शन होता है, और उस जीवन दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में एक राजनैतिक दृष्टि भी लगी रहती है ।"[4] इसलिये किसी भी काव्य-सिद्धान्त को समझने के लिये इस आपसी संबंध को समझना जरूरी है । वरना क्या कारण है कि इस "आधुनिक भाव-बोध में उन उत्पीड़नकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है, जिन्हें हम

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 331.
2. वही0 पृ0 326.
3. वही0 पृ0 330.
4. वही0 पृ0 331.

शोषण कहते, पूँजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं, तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है, जिसे हम जनता कहते हैं । यहाँ तक कि उस आधुनिक भाव-बोध में उस देशी निर्माण का स्वप्न भी नहीं है, जिसके अंतर्गत हमारे यहाँ औद्योगीकरण हो रहा है ।"[1]

सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति में समांतरता का सिद्धान्त --

"आधुनिक काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि" (सन् 59) लेख में नयी कविता के कुछ काव्य सिद्धान्तों पर ज्यादा गहराई में जाकर विचार किया गया है । सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति की समांतरता के सिद्धान्त के समाजशास्त्रीय पहलू पर वे लिखते हैं --- "एक ओर वास्तविक अंतर्जीवन तथा निज का व्यक्तित्व तथा दूसरी ओर बाह्य से पुनः पुनः प्राप्त संवेदनायें -- इन दो के बीच फासला बढ़ता जाता है, एक डबल पर्सनैलिटी जैसा कुछ तैयार हो जाता है । ... ...कवि-व्यक्तित्व और वास्तविक व्यक्तित्व के इस फासले के सबब से, वह साहित्यिक चिंताधारा प्रकट होती है, जिसे हम सौंदर्यानुभूति और वास्तविक जीवनानुभूति की समांतर गतिशाला सिद्धान्त कह सकते हैं । ..... कला की ऑटोनॉमी को ..... इतना निर्विकल्प किया गया कि साक्षात जीवन से उसके संबंध टूटने लगे ।.... मुख्य बात यह है कि सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभव दोनों की विभिन्न कक्षाओं पर पृथक समांतर गति नहीं होती । सौंदर्यानुभूति और

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 333.

जीवनानुभव के गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप का नाम है । ..... सौंदर्यानुभव और वास्तविक जीवनानुभव, इन दो का सारूप एक ही है । फिर भी इन दोनों में महान भेद है । इन दोनों के भेद और एकात्मकता ध्यान में रखने की वस्तु है । ... . सौंदर्यानुभव तब घटित होता है, जब मनस्पटल पर बिम्बित कल्पना रूपों में डूबकर मन साधारण जीवन की अपनी निजबद्धता का परित्याग करता है । ..... संक्षेप में तन्मयता और तटस्थता, निजबद्धता संकुचित और मनस्पटल पर अंकित बिम्बों में अपनी स्वयं की व्यस्तता, संलग्नता-- इन दो द्वन्द्वों एक मनोदशात्मक परिणति ही सौंदर्यानुभव है ।... विशिष्ट और सामान्य के द्वन्द्वों की इस एकीभूत स्थिति के बिना सौंदर्यानुभूति असंभव है ।" और यह तभी संभव है जब रचनाकार को मानवीय गुण और उस गुण का सामर्थ्य प्राप्त हो । तभी वह विशिष्ट की सामान्य में परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनन्द ले सकेगा ।"[1]

देखा जा सकता है कि मुक्तिबोध ने यहाँ सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति के संबंध के बाबत चलने वाली बहस को ज्यादा गहराई पर पहुँचा दिया है । सौंदर्यानुभूति और जीवनानुभूति को समांतर मान बैठने या भोक्ता मन और सर्जक मन की बीच पूर्ण पार्थक्य को स्वीकृति देने के बजाय, वे ऐसी अवधारणा पेश करते हैं, जो ज्यादा सार्थक हो । "सौंदर्यानुभूति जीवनानुभूति के गुणात्मक रीति से परिवर्तित रूप का नाम हैं -- इससे यह प्रकट होता है कि सौंदर्यानुभूति का संबंध जीवन से तो हैं, लेकिन वह उसकी "बाई प्रोडक्ट" नहीं है,

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ० 205.

बल्कि उत्पादन है । युगांतरकारी घटनाएँ और सामाजिक संदर्भ स्वतः ही साहित्य सृजित नहीं कर देते । "कहने का तात्पर्य यह है कि युगांतरकारी घटनाओं से प्रेरणा प्राप्त कर तत्संबंधी साहित्य के उत्पन्न होने के लिये ऐसे व्यक्तित्व की भी आवश्यकता होती है, जो अपने युग का, अथवा उसके किसी महत्वपूर्ण अंग का प्रतिनिधित्व करके, उस घटनाक्रम से आक्रांत होकर, उसे प्रकट करने के लिये किसी न किसी तरह से मजबूर हो जाय ।"[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य सृजन के लिये एक ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, जो अपने युगीन संदर्भों को कच्चे माल के रूप में इस्तेमाल करते हुए उन्हें गुणात्मक रूप से भिन्न साहित्यिक उत्पादन में परिवर्तित कर दे । जो लोग रेमंड विलियम्स के साहित्य और समाज संबंधी विचारों से परिचित हैं, वे महसूस करेंगे कि विलियम्स और मुक्तिबोध के विचारों में अनेक स्तर पर समानता है । विलियम्स की तरह मुक्तिबोध भी रचनाकार के सर्जनात्मक व्यक्तित्व को साहित्य-सृजन के लिये महत्वपूर्ण मानते हैं, और रचना और युग के बीच निर्धारणवादी संबंधों के दोनों विरोधी हैं ।

इसी प्रकार, भोक्ता मन और सर्जक मन के बीच पूर्ण पार्थक्य के बजाय मुक्तिबोध ने ऐसी अवधारणा पेश की है, जिसमें सामान्य और विशिष्ट, समाज और व्यक्ति, निमग्नता और तटस्थता, भावना और विवेक, चेतन और अवचेतन, रूप और वस्तु के बीच द्वन्द्वात्मक तनाव की स्थिति स्वीकृत की गयी है । जैसा कि सन् 60 में लिखे गये 'सौंदर्य प्रतीति की प्रक्रिया' लेख में उन्होंने लिखा है -- "एक क्षण

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ० 50.

में पृथकता और तटस्थता, दूसरे में निमग्नता, गति, प्रक्रिया और सामरस्य । एक क्षण में दर्शक-दृश्य भाव का द्वित्व तो दूसरे क्षण में केवल प्रवाह और प्रवाह ~~और प्रवाह~~ की गतिमान एकता । पृथकता और सामरस्य, तटस्थता और तल्लीनता, स्थितप्रज्ञात्मकता और प्रवाहिता, स्थिति और गति की यह जोड़ी वस्तुतः दो विरोधी बातें हैं । किंतु ये दो विरोधी बातें दिक् और काल की तरह एक ही क्षण की दो बाजुएं हैं, दो पक्ष हैं, दो डायमेन्शन्स हैं । जिस क्षण में ये दोनों बातें सध जाती हैं, वही कलात्मक क्षण है । इन दोनों में से अगर कोई भी पक्ष निर्बल हुआ या कम हुआ तो वहाँ कलात्मक अनुभव हीन कोटि का होगा, या होगा ही नहीं ।"[1]

समाज रचनाकार और रचना के मध्य संबंध --

हम जानते हैं कि मुक्तिबोध ने रचनाकार के व्यक्तित्व, उसके सामाजिक परिवेश, और पारिवारिक माहौल के आपसी संबंधों को समझने पर बड़ा बल दिया है । प्रसाद की कामायनी के मूल्यांकन के प्रसंग में तो उन्होंने स्पष्टतः इस दृष्टिकोण को सूत्रबद्ध कर दिया था । इसी प्रकार पंत, त्रिलोचन, सुभद्रा कुमारी चौहान और शमशेर पर लिखे गये अपने लेखों में भी उन्होंने अपनी इस मान्यता को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है ।

जैसा कि पहले अध्याय में हमने दिखाया था मुक्तिबोध मानते हैं कि साहित्य का विकास और सामाजिक राजनैतिक घटनाओं का

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड ५, पृ० 152.

क्रम समांतर रेखाओं में नहीं चलता। इसके अलावा, सामाजिक घटनाएं अपने आप में साहित्य नहीं रच देतीं, उसके लिये ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है जो उस संदर्भ को गुणात्मक रूप से रूपांतरित कर कलात्मक उत्पादन में बदल दे। ऐसा हमेशा हो ही, यह जरूरी नहीं। कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आंदोलन सन् 36 के बाद और सशक्त हुआ, कार्य-कारण सूत्र से तो होना यह चाहिये था कि प्रेमचन्द से भी बड़ा कोई रचनाकार सामने आता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि साहित्यिक सृजन के लिये युग-संदर्भ ही नहीं, रचनाकार का व्यक्तित्व भी आवश्यक है। समाज और साहित्य के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव का संबंध नहीं होता।

बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद की अवधारणा का विरोध करते हुए कुछ लोग साहित्य और समाज के बीच के संबंध को अत्यंत मद्धिम बना देते हैं। इसके विपरीत मुक्तिबोध यह मानते हैं कि "प्रेरणामयी मानवतावादी भावधारा उसमें (रचनाकार में) तब तक उत्पन्न नहीं हो सकती, जब तक कि समाज में या जीवन जगत में मानवतावादी भावधारा का उत्कृष्ट या व्यापक प्रभाव न हो, अथवा रचनाकार का ऐसा प्रचंड व्यक्तित्व नहीं जैसा कि मान लिजिये वाल्ट ह्विटमैन का था।"[1] मुक्तिबोध के इस वक्तव्य में युग और रचनाकार -- दोनों के मध्य द्वन्द्वात्मक संबंध की बात कही गयी है, जो किसी भी तरह के एक-पक्षीय यांत्रिक सरलीकरण से श्रेष्ठ है।

मुक्तिबोध ने शुरू से अंत तक इस बात पर बहुत जोर दिया है कि रचनाकार को अपना ज्ञान लगातार विकसित करते रहना च

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 350.

चाहिये । नयी कविता वालों द्वारा ज्ञान-विज्ञान का निषेध करके केवल आत्मानुभव पर जोर देने की धारणा की सीमाओं का उन्होंने बारम्बार उल्लेख किया है । बताया है कि केवल आत्मपक्ष पर जोर देने वाले कभी कभी बहुत ईमानदारी से अपनी मूर्खतापूर्ण अनुभूतियों को बड़ी ऊँची चीज समझ बैठते हैं । "कलाकार की व्यक्तिगत ईमानदारी" (सन् 60) में वे लिखते हैं -- "जो भाव या जो विचार जिस स्वरूप को लेकर, जिस मात्रा में और जिस अनुपात में प्रस्तुत हुआ है, उसको उसी रूप में प्रस्तुत करना एकदम नाकाफी है । महत्व की बात यह है कि वह भाव या वह विचार किसी वस्तुसत्य से सुसंगत है या नहीं" । व्यक्तिगत ईमानदारी का नारा देने वाले लोग असल में भाव या विचार के सिर्फ सब्जेक्टिव पहलू -- केवल आत्मपक्ष -- के चित्रण को ही महत्व देकर उसे भाव सत्य या आत्म-सत्य की उपाधि देते हैं । किंतु भाव या विचार का एक वस्तुपरक पक्ष भी होता है ।"[1]

correspondence Theory *

काव्य में स्वाँग या ढोंग की समस्या ऐसी है, जिस पर हिन्दी में संभवतः मुक्तिबोधने पहली बार विचार किया । मुक्ति-बोध ने माना है कि ऐसा स्वाँग प्रगतिशील और गैरप्रगतिशील दोनों प्रकार के रचनाकार कर सकते हैं, करते हैं । ये इस तरह ढेर सारा नकली साहित्य तैयार कर देते हैं, जिसमें कोई गहराई नहीं होती । मुक्तिबोध ने लिखा है कि "विवादियों के एक पक्ष का कहना है कि मानसिक प्रतिक्रिया का यह संशोधन सम्पादन अनावश्यक है, गलत है, खतरे से भरा हुआ है । यहाँ बेईमानी हो सकती है, होती है,

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड ५, पृ0 121.

जानबूझकर की जाती है । इसलिये होना यह चाहिये कि व्यक्तिगत मानसिक प्रतिक्रियाओं को ज्यों का त्यों ठीक ठीक अनुपात और मात्रा में प्रकट किया जाय । ..... काव्य में लम्बी चौड़ी हाँकने वाले लोग, छोटी सी मानसिक प्रतिक्रिया को अपनी दृष्टि के अनुसार बहुत बढ़ा चढ़ाकर रखते हैं । वे एक एक्टर नर हैं ।..... लम्बी चौड़ी हाँकने वाले सज्जन, विलासक एक ~~मस्त~~ नकली साहित्य पैदा करदेते हैं । कहते हैं कि काव्य एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है- मात्र व्यक्तिगत नहीं है । इसलिये उन्हें काव्य सृजन के दौरान ।मन के भीतर। अभिनेतृत्व करने, स्वांग रचने, लम्बी चौड़ी हाँकने की पूरी छूट है ।"[1] मुक्तिबोध मानते हैं कि ऐसा संभव है लेकिन उसकी पोल बहुत जल्दी खुल जाती है, उसमें गहराई नहीं होती । चेखव ने लिखा है कि रचनाकार और कहीं झूठ बोले तो शायद चल भी जाय, लेकिन रचना में यह संभव नहीं । वहाँ ~~मर~~ वह धोखा नहीं दे सकता । मुक्तिबोध ने लिखा है कि "कवि का धर्म है -- अपनी प्रकृति से और काव्य की वस्तुगत की प्रकृति से एकाकार होना ।"[2] "कवि जीवन जगत के प्रति वास्तविक विश्वदृष्टि का विकास करे, और वह विश्वदृष्टि उसकी मानसिक प्रतिक्रिया की प्रेरक हो ।"[3] ऐसा न होने पर उसे विश्व-दृष्टि का ज्ञान भले ही हो जाय, उसके व्यक्तित्व का विकास न होगा।। ज्ञान संग्रहालय में पड़ी हुई तमाम वस्तुओं की तरह एक कोने में पड़ा रहेगा, वह उसके व्यक्तित्व की अभिन्न हिस्सा न बन पायेगा । काव्य की सामग्री वास्तविक जीवन है, इसलिये बहुत कुछ इस बात

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 123.
2. वही0 पृ0 128.
3. वही0 पृ0 124.

पर निर्भर करता है कि उसका वास्तविक जीवन कैसा है। वस्तुतः "काव्य रचना एक सृजन प्रक्रिया के रूप में चलती है, उस समय यदि कृत्रिम रूप से संशोधन सम्पादन चलता रहा तो कवि पर अभिनेतृत्व और स्वांग का आरोप सही हो जायेगा। किंतु यदि ज्ञानात्मक आधार पर विकसित जीवन-स्वप्न ही मानसिक प्रक्रिया का संशोधन सम्पादन करता रहे तो निःसंदेह वह काव्य रचना के एक स्वाभाविक अंग के रूप में प्रस्तुत होगा।"[1] इसके विपरीत यदि अंतःस्थिति भावदृष्टि तथा जीवन ज्ञान व्यवस्था से भिन्न तथा पृथक बाह्य तत्वों के दबाव में आकर लेखक जब जहाँ कलाकृति में संशोधन करता है, अथवा ऐसे तत्वों के दबाव में आकर वह नवीन रचना उपस्थित करता है, तो वैसी स्थिति में कला की आत्मस्वतंत्रधर्मिता में बाधा होने से उसकी स्वतंत्र स्थिति नष्ट हो जाती है।"[2]

मुक्तिबोध के विचार में काव्य में फ्राड दो तरह से संभव है। "एक तो फ्राड जानबूझ कर किया जाता है, अर्थात वह काव्य में जो दृष्टि अपनाता है, वह उसकी अंतर्दृष्टि नहीं होती।"[3] दूसरे तरह से फ्राड तब होता है जब लेखक यह जानता ही नहीं कि वह फ्राड कर रहा है। लेखक को पूरा विश्वास होता है, जो बात वह कह रहा है, सही कह रहा है। अर्थात जब लेखक ईमानदारी से मूर्ख होता है।"[4]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ० 130.
2. वही० पृ० 361.
3. वही० पृ० 125.
4. वही० पृ० 125.

मुक्तिबोध ने यह दिखाया है कि काव्य में फ्राड केवल प्रगतिशील लेखक ही करते हों, ऐसा नहीं । आत्म सत्य की दुहाई देने वाले भी फ्राड करते हैं और खूब करते हैं । लिखते हैं कि --- "नयी कविता की भी एक लीक बन गयी है । ढर्रे में सब कुछ खपाया जा सकता है । एक बार शिल्प विधान पर अधिकार हो जाये कि बस ।"[1] "सन् 36 से मैं भी कविताएँ लिख रहा हूँ । कविता में कहाँ कितना फ्राड होता है, वह जानता हूँ । नयी कविता का कवि बहुत सचेत है, वह काफी फ्राड करता है ।"[2] वस्तुतः छद्म मनोवैज्ञानिकता एक विशेष प्रकार की अभिरुचि एवं सेंसर्स का विकास करती है, इसकी वजह से एक विशेष प्रकार का जाली साहित्य पैदा होता है ।

मुक्तिबोध अपने लेख "युगीन घटनाक्रम और साहित्य" में इसके पूर्व लिख चुके थे कि "यदि साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है तो उसमें यह भी जोड़ना पड़ेगा कि ~~इस~~ साहित्य जीवन के स्वांग का का भी प्रतिबिम्ब होता है । नहीं तो कोई कारण नहीं कि प्रसूत साहित्य और उसे प्रसवित करने वाले मनुष्य में जो व्यवधान पाया जाता है वह सारा का सारा अचेतन रहता है । जानते बूझते हुए जब कमजोरियों का (मात्र सामाजिक प्रतिष्ठा की भूख से) पालन किया जाता है, जितनी इंटेंसिटी कविताओं में प्रकट की जाती है, उसका शतांश भी जब जीवन में नहीं होता, तब उसे क्या कहा जाये?

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 122.
2. वही0 पृ0 193.

यही कहा जायेगा कि सूक्ष्म शैली का यह एटिट्यूनाइजिंग है, अथवा स्थूल शैली का नाटक है।"[1]

क्या यह संभव है कि ऐसा फ्रॉड बहुत सुन्दर आकर्षक और मनमोहक भी बन जाय ? मुक्तिबोध का जवाब है कि "चूँकि वह मनमोहक और आकर्षक होता है, इसलिये वह पाठकों को अधिक प्रभावित करता है। किंतु इससे केवल इतना सिद्ध होता है कि फ्राड भी एक कला है -- एक ललित कला। और जो फ्राड है वह ललित कला भले ही हो, वह व्यक्तिगत ईमानदारी के अधार पर उपस्थित ललित कला नहीं है।"[2] अब सवाल यह पैदा होता है कि यदि वह ललित कला है, पाठकों को प्रभावित भी करती है, तो इससे क्या फ़र्क पड़ता है कि वह व्यक्तिगत ईमानदारी के आधार पर उपस्थित ललित कला नहीं है ? तो फिर क्या ललित कला के सृजन के लिये सर्वदा व्यक्तिगत ईमानदारी आवश्यक शर्त नहीं है ?

"व्यक्तित्व और रचना का संबंध" (सन् 60) में मुक्तिबोध ने साहित्य में फ्राड की समस्या पर पुनः विचार किया है -- "यदि कलाकार कुशल होगा तो वह बनतूपन ढाँक लेगा। कालिदास इतना श्रृंगारी नहीं हो सकता, जितना कि उसने अपने को प्रकट किया है। महादेवी वर्मा तो साफ कहती हैं कि उनका जीवन दुःख कष्ट ग्रस्त नहीं रहा है। फिर भी उनका काव्य बड़ा है। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वह जानबूझकर किया गया बनतूपन नहीं है।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 24.
2. वही0 पृ0 126.

वह बनतुपन है ही नहीं, वह एक रोल है । उस रोल की अदायगी के पीछे लेखक का अपना एक निजी स्थायी भाव है । यह केन्द्रीय स्थायी भाव अनेक रूप धारण कर प्रकट होता है । हमारे लिये अनुसंधान का विषय यह होना चाहिये कि इस स्थायीभाव का लेखक के व्यक्तित्व और मनोरचना से क्या संबंध है । हो सकता है कि यह स्थायीभाव लेखक के मन की सिर्फ एक गुत्थी हो । और चूँकि वह एक गुत्थी है, इसलिये वह अनेक विभ्रम और विक्षेप उत्पन्न करती है । .... यदि आप उसके स्थायीभाव को गुत्थी मान लेते हैं तो कई बातों का समाधान हो जाता है । कार्य और सिद्धान्त, वचन और आचरण के बीच की दूरियों की अपने आप व्याख्या हो जाती है । इसलिये कि वह एक गुत्थी है और गुत्थी जीवन में तीव्रता के साथ साथ अनेक विक्षेप उत्पन्न करती है ।"[1]

मनोरचना की ऐसी गुत्थियों से पैदा होने वाला साहित्य किन्हीं खास संदर्भों में सार्थक और श्रेष्ठ भी हो सकता है । किंतु कभी कभी रचनाकारों के लिये ऐसी गुत्थियों से उबर पाना असंभव भी हो जाता है । टूटते हुए ग्रामीण जीवन की मार्मिक स्मृतियों के गीत गाने वाले ऐसे भी कलाकार देखे गये हैं जो बाद में विकास की ऐतिहासिक समझ प्राप्त कर लेने के बावजूद भी अपने अतीत के नॉस्टॉल-जिया से मुक्त नहीं हो पाते, और कभी कभी नयी स्थितियों से तालमेल न बिठा पाने के कारण आत्महत्या कर लेते हैं । और यदि रचनाकार आत्महत्या नहीं भी करता तो भी एक ऐसी जड़ीभूत

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 157 - 58.

सौंदर्याभिरुचि विकसित कर लेता है, जिससे वह आगे नहीं निकल पाता। इस तरह मुक्तिबोध ने जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि के वर्गीय और मनोवैज्ञानिक -- दोनों तरह के कारणों की ओर ध्यान दिलाया है। वस्तुतः जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि कलाकार के वास्तविक जीवन की हलचलों से कट जाने के कारण पैदा होती है। ऐसी स्थिति वर्गीय, मनोवैज्ञानिक और विचारधारात्मक -- इन तीनों की वजह से पैदा हो सकते हैं।

मुक्तिबोध का विचार था कि इस जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि और भीतरी सैंसर्स, जो अनजाने ही कार्य करतेरहते हैं, से मुक्तिबोध के लिये रचनाकार को लगातार अपना वैचारिक जगत विकसित करते रहना चाहिये, क्योंकि भावना विचार के क्षेत्र में ही विचरण करती है। रचनाकार की ईमानदारी का तकाजा यह भी है कि वह नयी अंतर्वस्तु को प्रकट करने के लिये नये रूप का भी विकास करे। नहीं तो होगा यह कि 'कंडीशन्ड साहित्यिक रेफलेक्सेस' नियम के तहत अभिव्यक्ति के वही पुराने रूप और शब्द सामने आ जायेंगे, जो नयी अंतर्वस्तु को व्यक्त करने में अक्षम होते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकार या तो पुराने तरीके से ही नयी अंतर्वस्तु को व्यक्त करने का असफल प्रयास करता है, या नये संदर्भों को व्यक्त करने का अपना इरादा ही त्याग अपनी पुरानी दुनिया में वापस लौट आता है।

कविता में क्राड या कृत्रिमता आने का एक कारण और है। वह है अकवित्व। मुक्तिबोध ने लिखा है कि --"लेखक की सिन-सियारिटी का प्रश्न वस्तुतः उसके अंतर्जगत की अभिव्यक्ति से संबंधित

है । यदि वह अभिव्यक्ति कृत्रिम है, तो निस्संदेह वहाँ सिनसियारिटी नहीं है । किंतु कृत्रिमता केवल सिनसियारिटी की ही उपज नहीं होती, वह अक्षमता की भी उपज होती है ।[1] अंतत: कवि की इस इनसिनसियारिटी या फ्रॉड को पकड़ने का जो तरीका मुक्तिबोध सुझाते हैं वह है गहराई -- कि कवि किस सतह से बोल रहा है । इसका असर भाषा पर भी पड़ता है । 'उर्वशी-विवाद' में मुक्ति-बोध ने इसी आधार पर दिनकर की भाषा की कृत्रिमता को उद्घा-टित किया था ।

अक्सर यह सवाल जो कि वाजिब भी है, उठाया जाता है कि क्या कोई कलाकार वास्तविक जीवन में ईमानदार है, इसी से उसका साहित्य भी श्रेष्ठ हो जायेगा ? क्या यह संभव नहीं कि वास्तविक जीवन में ईमानदार होने के बावजूद उसका साहित्य प्रभाव-शाली न हो ? क्योंकि कृत्रिमता केवल बेईमानी की ही उपज नहीं होती, वह अक्षमता की भी उपज होती है । साहित्य एक खास तरह का उत्पादन है, जिसके लिये ईमानदारी के अलावा एक खास तरह की क्षमता और कुशलता भी चाहिये । लेनिन और गोर्की दोनों ईमानदार हो सकते हैं, दोनों कवि भी हों, जरूरी नहीं । इसलिये साहित्यकला के प्रसंग में जब ईमानदारी की बात की जाती है तो उसका मतलब साहित्यिक ईमानदारी से होता है । यदि सामाजिक ईमानदारी साहित्यिक श्रेष्ठता की गारंटी नहीं है तो सामाजिक ईमानदारी की जरूरत ही क्या है ? -- प्रश्न किया जा सकता है । मुक्तिबोध ने दिखाया है कि साहित्यिक ईमानदारी सामाजिक

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खं 5, पृ0 217.

ईमानदारी से पूर्णत: निरपेक्ष हो, ऐसा नहीं, बल्कि सामाजिक ईमानदारी साहित्यिक ईमानदारी को प्रभावित करती है । जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि अनजाने अचेतन रूप से काम करने वाले सेंसर्स, एक खास तरह की काट की कविता को ही कविता मानने का आग्रह ये सब बातें विशुद्ध रूप से साहित्यिक मसले नहीं हैं, बल्कि इन सब के पीछे रचनाकार की सामाजिक ईमानदारी का बहुत बड़ा हाथ है । वस्तुत: रचनाकार केवल 'साहित्य' नहीं रचता बल्कि मूल्य सम्पृक्त साहित्य रचता है । इसलिये केवल साहित्य पर्याप्त नहीं मूल्य सम्पृक्त साहित्य चाहिये । सच तो यह है कि साहित्यिकता और सामाजिकता एक ही चीज भले न हों, किंतु परस्पर पूर्णत: निरपेक्ष भी नहीं हैं । यही कारण है कि समाज के बदलने के साथ साहित्य की धारणा भी बदलती रहती है । साहित्यिक ईमानदारी का सामाजिक ईमानदारी से बहुत सीधा न सही- नाता जरूर है । साहित्य एक सांस्कृतिक उत्पादन है -- समाज के लिये । इसलिये सामाजिक ईमानदारी का साहित्य से संबंध है । वस्तुत: यह केवल साहित्यिक प्रश्न है ही नहीं । सामाजिक सरोकारों से दूर मात्र साहित्य के प्रति 'पूजाभाव' प्रदर्शित करने की मानसिकता वस्तुत: पूँजीवादी श्रम-विभाजन की देन है, जिसमें "अपने काम से काम" की सीख दी जाती है । गोया अपने काम का दूसरों के काम से कोई संबंध ही न बनता हो । वास्तविकता को सम्पूर्णता में ग्रहण करने के पूर्व ही, उसे विशेषीकरण के नाम पर टुकड़ों-टुकड़ों में देखने की यह खंडित दृष्टि है । रचनाकार केवल रचनाकार ही नहीं है, बल्कि वह एक सामाजिक प्राणी भी है और ये दो कोटियाँ एक दम निरपेक्ष नहीं हैं, बल्कि ऐक ही व्यक्ति के संदर्भ में हैं, और ये दोनों दो दिशाओं

में चलें और परस्पर कोई तनाव नहीं, एक दूसरे को वे प्रभावित न करें -- यह मुमकिन नहीं । आज के जमाने में साहित्य में फ्रॉड प्राय: तब पैदा होता है, जब रचनाकार का विघटित मन दोहरे व्यक्तित्व की भूमिका में आ जाता है । यद्यपि कुछ सामाजिक मूल्यों की अभिव्यक्ति से ही कोई रचना साहित्यिक नहीं हो जाती, उसके लिये कुछ और चाहिये । लेकिन इस 'कुछ और' (साहित्यिकता) और सामाजिकता में से किसी एक पर ही ध्यान देना एकांगी दृष्टि है । और अंतिम निष्कर्ष में यह सवाल केवल साहित्य का नहीं बल्कि सामाजिक प्रक्रिया का है, जैसा कि मुक्तिबोध ने लिखा है ---

"यदि यह सच है कि साहित्य से प्रकट या संस्थापित जीवन मूल्य उस साहित्य के साहित्यिक गुणों की कसौटी नहीं है, तो यह भी सच है कि वे जीवन मूल्य सृष्टा से संगति की अपेक्षा रखते हैं और यदि यह संगति भंग हुई तो साहित्य और समाज में उचित परम्परा का विकास नहीं हो पाता ।"[1]

रूप और वस्तु =====

रूप और वस्तु के संदर्भ में 'कंडीशन्ड साहित्यिक रेफ्लेक्सेस' की धारणा को हिन्दी में प्रस्तुत करने वाले मुक्तिबोध संभवत: पहले व्यक्ति हैं । इसके अलावा, यथार्थवाद और रूप के संबंध में मुक्तिबोध ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे हिन्दी की प्रगतिशील आलोचना को एक नया आयाम देते हैं । मुक्तिबोध ने ब्रेख्ट के 'अगेंस्ट लूकाच'

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड ५, पृ० 71.

लेख को संभवत: नहीं ही पढ़ा होगा, किंतु जहाँ तक विचारों का सवाल है, दोनों में अद्भुत समानता है । पुनर्विचार में मुक्तिबोध ने लिखा था "कि यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है । यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भावबादी शिल्प है -- उस शिल्प के अंतर्गत जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थ रही हो ।"[1] ब्रेख्ट का विचार है कि "कोई रचना आपने तुक या रूप की वजह से ही रूपवादी नहीं हो जाती । बल्कि यदि कोई रचनाकार अपनी रचना में ऐसी बात कहता है जो असत्य अथवा अप्रासंगिक है तो जरूर उसे रूपवादी कहा जायेगा । इसके विपरीत ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जिनमें रूप पक्ष पर खूब ध्यान दिया गया होता है फिर भी वे रूपवादी नहीं होती । ऐसी भी रचनाएं मिलती हैं जो रूप की दृष्टि से तो यथार्थवादी हैं, किंतु अंतर्वस्तु के लिहाज से नहीं । ऐसी भी रचनाएं हैं, जिनका लेखन बहुत ही ऐन्द्रिक है, फिर भी वे यथार्थवादी नहीं हैं, और ऐसी भी जो ऐन्द्रिक नहीं हैं, फिर भी यथार्थवादी हैं ।"[2] इस प्रकार पाते हैं कि

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, पेपर बैक। खंड 4, पृ0 179.
2. For instance if some one makes a statement which is untrue-or irrelevent- not merely because its rhyme, then he is a formalist. But we have unnumerable works of an unrealistic kind which did not become so because they were based on a excessive sens e of form ... We are then in a position, if we return to literature to characterise and unmask as formalistic even works which do not elevate literature over social context and yet do not correspond to the reality. We can even unkask the

यथार्थवाद को किसी रूप विशेष तक सीमित कर देने की धारणा का विरोध ब्रेख्ट ने भी किया है, मुक्तिबोध ने भी । यथार्थ में परिवर्तन के साथ रूप भी बदलेगा -- यह मुक्तिबोध भी मानते हैं और ब्रेख्ट भी ।

नयी कविता की प्रकृति --

मुक्तिबोध ने यह बात बारम्बार स्पष्ट की है कि नयी कविता में प्रगतिशील परम्परा की एक लीक चली आयी है । नयी कविता को उन्होंने दो खेमों में बाँटा, जिनमें से एक का संबंध निम्न-मध्यवर्ग से, और दूसरे का उच्चमध्यवर्ग से जोड़ा । पहली धारा को उन्होंने प्रगतिशील माना, जिसके अंतर्गत शमशेर, नरेश मेहता और स्वयं को रखा ।

मुक्तिबोध ने नयी कविता के सामाजिक संदर्भों का जो विश्लेषण किया है, उसके आधार पर नयी कविता का एक व्यवस्थित समाजशास्त्र तैयार किया जा सकता है । नये की जन्म कुण्डली (सन् 57) में वे लिखते हैं -- 'राजनीति के पास समाज सुधार का कार्यक्रम न होना साहित्य के पास समाज सुधार का कार्यक्रम न होना

---

work which are realistic in form ... we shall acknowledge that there are works which are sensuously written and which are not realist, and realist works which are not written in a sensuous style.' Quoted from 'Aesthetics and Politics', Edited by - Ronald Taylor, p. 72,82

सबने सोचा कि हम सामान्य बातें करके, सिर्फ एक मात्र राजनैतिक और साहित्यिक आंदोलन के जरिये वस्तुस्थिति में परिवर्तन कर सकेंगे । फलतः सामाजिक सुधारों का काम केवल अप्रत्यक्ष प्रभावों पर छोड़ दिया गया । .... मतलब यह कि अन्याय पूर्ण व्यवस्था को चुनौती घर में नहीं घर के बाहर दी गयी । इसलिये पुराने सामंती अवशेष बड़े मजे से हमारे परिवारों में पड़े हुए हैं । पुराने के प्रति और नये के प्रति इस प्रकार एक बहुत ही अवसरवादी दृष्टि अपनायी गयी । इसलिये सिर्फ एक सम्पन्नता है, प्रश्न है, वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन करके उत्तर खोज निकालने की न जल्दी है, न तबियत, न कुछ । ..... धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनुशासित किया था । वैज्ञानिक मानवीय दर्शन ने, वैज्ञानिक मानवीय दृष्टि ने धर्म का स्थान नहीं लिया । इसलिये हम अपनी अंतःप्रवृत्तियों से चालित हो उठे । ..... हम "नया - नया" चिल्ला तो उठे, लेकिन नया क्या है -- हम जान नहीं सकेंगे । क्यों ? नया जीवन, नये मानमूल्य नये ज्ञान परिभाषा हीन और निराकार हो गये । ... परम्परागत आदर्श ने हमारे आत्मतत्व को विखंडित होने से बचा लिया था । हमने पुराने मूल्य तोड़ दिये, नये उपस्थित नहीं हुए । जो हुए वे दृढ़ नहीं हो सके .... वे अस्पष्ट रह गये । उनकी अस्पष्टता खूबसूरत हो गयी । असल में इस "नवीन" को केवल अपनी इच्छा के ऊपर छोड़ दिया गया है । इसलिये "नया" बिल्कुल प्रवृत्ति मूलक है ।.... तत्व रूप में आकार हीन नये केसिर्फ डिजाइन की खोज हुई, नयी कविता नयी डिजायन की कविता है । ... वह घर के बाहर का साहित्य है । उसमें मूर्त मानव संबंधों के चित्रण की गुंजाइश ही कहाँ है ? आप तो भाव प्रकट करते हैं । मानव संबंध नहीं । विचार-

धारा का होना अविश्वास और अश्रद्धा को ही विचारधारा मान लेना, प्रश्न को ही उत्तर का स्थान देकर हाथा झाड़ लेना --- हमारी नवीनतम साहित्य-प्रवृत्ति का एक लक्षण है । ..... मन की उग्र प्रतिक्रिया आजकल विचार कहलाती है ...... अंतरात्मा वाला रूख प्रवृत्ति मूलक और अंततः किसी भी प्रकार के विचार और श्रद्धा का विरोधी है ।"[1]

वस्तुतः नयी कविता "एक परिस्थिति में पलते हुए मानव हृदय की, पर्सनल सिचुएशन की कविता है ।... यह पर्सनल सिचुएशन यहाँ तक बढ़ गयी है बहुतेरे कवियों ने उसे व्यक्त करने के लिये अपनी एक निजी शैली और प्रतीक सम्पदा बढ़ा ली है । यहाँ तक कि कई बार एक कवि को दूसरे कवि की कविताएं ही समझ में नहीं आती ।"[2]

नितांत अनुभववादी आत्मकेन्द्रित कविता की ऐसी दुर्गति का "एक कारण (अन्य कई कारण हैं) ऐसी विश्वदृष्टि का अभाव है, जो उन्हें अभ्यांतर आत्मिक शक्ति और मनोबल प्रदान कर सके तथा उसकी पीड़ाग्रस्त अंतःसिकता को दूर कर सके ।"[3]

"नयी कविता और आधुनिक भावबोध" (सन् 56) लेख में नीयी कविता के आधुनिक भावबोध का संबंध पश्चिम की पतनशील धारा से जोड़ा गया है और यह दिखाया गया है कि भारत में भी

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 53.
2. वही0 पृ0 329.
3. वही0 पृ0 327.

ऐसी परिस्थितियाँ हैं कि विफलता, ग्लानि, क्षोभ आदि का चित्रण स्वाभाविक लगे । फिर अंततः मुक्तिबोध का मानना है कि "नयी कविता के पूरे क्षेत्र को इस वैचारिक प्रवृत्ति ने, इस व्यक्तिवाद ने नहीं घेरा उसका कुछ अंश ही इस प्रवृत्ति का शिकार है । किंतु नयी कविता का यह अंश संगठित है और संगठित रूप से उसका प्रचार होता है । .... किंतु नयी कविता में कुछ आवाजें ऐसी हैं, जो भारतीय व्यक्तित्व की भारतीयता की रक्षा चाहती हैं ।"[1]

सन् 58 - 59 लेख "अवेलापन और पार्थक्य" । लिखते हैं "आधुनिकतावादियों को मैंने देख लिया है । उनमें दम नहीं है .... वे समस्या को बड़ा करके बताते हैं और आदमी को छोटा करके नचाते हैं । यह भी एक स्वांग है ।"[2] सन् 58 लेख तीसरा क्षण --- "मैं चाहता हूँ कि साहित्य संबंधी धारणायें वास्तविक साहित्य के विश्लेषण के आधारपर बनायी जाय । जिस प्रकार विज्ञान में इन - डक्शन के बाद डिडक्शन पर आया जाता है ... उसी प्रकार साहित्य में इन्डक्शन से डिडक्शन पर क्यों न आया जाय ? इन्डक्शन का क्षेत्र हिन्दी साहित्य तक सीमित क्यों रहे ? उपन्यास क्या है यह पढ़ाते समय हम विश्व के प्रमुख उपन्यासों के अध्ययन के उपरांत ही यह ठहरायें कि उपन्यास किसे कहते हैं । ... मुझे गहरा संदेह है कि आजकल की सौंदर्य - परिभाषा .... केवल कविता और वह भी आत्मपरक कविताओं की विशेषताओं के आधार पर बनायी जा रही है । सौंदर्य संबंधी इन व्याख्याओं का प्रकट या अप्रकट उद्देश्य

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 314 - 15.
2. वही0 पृ0 314 - 15.

JAWAHARLAL

आज की काव्य दृष्टि का डिफेंस है ।"[1] मुक्तिबोध ने अपने इन्हीं तर्कों के सहारे न केवल आधुनिकतावादियों की मान्यताओं का विरोध किया, बल्कि प्रगतिवादी समीक्षा की जड़ सूची समझ का भी खंडन किया ।

सन् 59 में लिखा गया लेख " नयी कविता : निस्सहाय नकारात्मकता" इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है कि इसमें नयी कविता की आधुनिकतावादी प्रवृत्ति का समग्र मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है -- "एक निस्सहाय नकारात्मकता, अथवा अधिक से अधिक जीवन के छिटपुट चित्र, जिसमें कभी आलोचना-त्मकता है, तो कभी औदासीन्य का कलुष ।... हाँ यह सही है कि जीवन के इन छिटपुट चित्रों में भी भाव-गंभीरता है, तथा सच्चाई भी होती है (नहीं भी होती है) । कुछ और चाहिए ... जो जीवन को उसकी समग्रता में, उसकी सारी विशेषताओं सहित प्रकट करें । ... कुछ लोग खोज पर विश्वास करते हैं । (लेकिन) अधिक से अधिक वह आत्मान्वेषण और आत्मानुसंधान बन कररह जाता है, जिसके ~~अंगन~~ आवेग में चार-पाँच या दस-बीस कविताएँ बनाकर मामला ठप्प हो जाता है । ..... एक घेरा सा बन गया है, उससे निकलना मुश्किल है । ... सतत् अन्वेषण और आत्मानुसंधान का बाजा बजाने वाले लोग वस्तुतः प्रयोग नहीं कर रहे हैं, ... वे घेरे में फँसे हुए लोग हैं ।..... कविता में एक ही स्थायी भाव बार बार प्रकट होकर समाप्त हो जाता है ।"[2]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ० 93.
2. वही० खंड 5, पृ० 346 एवं 349.

जिस प्रयोगवाद को छायावाद के विरुद्ध मुक्तिबोध ने व्यक्तिवादी यथार्थवाद की बौद्धिक प्रतिक्रिया कहा था, उसी के परवर्ती रूप नयी कविता में सामाजिक ज्ञान-विज्ञान के निषेध को उन्होंने खेदजनक बतलाया और नयी कविता की अंत:प्रवृत्ति (सन् 59) में तो साफ कह दिया कि "वस्तुत: नयी काव्य दृष्टि में हमें विधेयात्मक, विश्लेषणात्मक तत्त्व बहुत कम दिखायी देते हैं। इसलिये मेरा अपना ख्याल है कि नयी काव्य दृष्टि को हम बौद्धिक नहीं कह सकते। यह सोचना गलत है कि जहाँ भावुकता का अर्थात् भावनात्मक व्याकुलता का अभाव है, वहाँ बौद्धिकता है।"[1]

सन् 59 में मुक्तिबोध ने नयी कविता पर सबसे ज्यादा लिखा है। "नयी कविता की उपलब्धि और सीमा" में वे एक बार फिर नयी कविता को समझने-समझाने का प्रयास करते हैं। लिखा है कि "यह जो कुछ लिखा गया है और लिखा जा रहा है, वह लहरों में तैरने से समान है। लहरें दीख रही हैं, कुछ ऊँची हैं, कुछ नीची, वे अनेक हैं, असंख्य हैं। उनका चित्रण भी सुन्दर हुआ है। किंतु समुद्र इन लहरों से जुड़ा हुआ होकर भी व्यापक है। ..... असल में नयी कविता ये मानसिक तरंगों (प्रतिक्रिया) का चित्रण करती है। ये तरंगें क्षण स्थायी हैं .... ऐसी मानसिक प्रतिक्रिया जो पूरे जीवन को प्रभावित कर सके, बहुत थोड़ी होती है ..... कविताएँ और भी अल्प। अतएव हमें ऐसे "प्रतिक्रियावाद" अर्थात मनस्तरंगवाद अथवा क्षणवाद से बाहर निकलना होगा।"[2]

---

1. मुक्तिबोध, रचनावली, खंड 5, पृ0 345.
2. वही0 खंड 4, पृ0 59.

जिस छायावाद में मुक्तिबोध को प्रारम्भ में शुक्ल जी की तरह अर्थभूमि का संकोच और वायवीयता दिखायी पड़ी थी, उसी से नयी कविता की तुलना करते हुए "रूप और वस्तु" में (सन् 61) में वे लिखते हैं कि "छायावाद के पास और कुछ न सही, व्यापक आध्यात्मिक विश्व स्वप्न था, साथ राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रेरणा थी। उसके पास अपना एक दर्शन था।.... वर्तमान प्रवृत्तियों के एकदम पास वह भी नहीं है। फलतः आज की प्रवृत्तियाँ एकदम व्यक्ति-स्वातंत्र्यवादी हैं।"[1]

"व्यक्तित्व और रचना का संबंध" (सन् 60) में तो मुक्तिबोधजी कविता की आसन्न मृत्यु की जैसी भविष्यवाणी ही कर देते हैं "असामंजस्य और असंतुलन में से ही नयी कविता का जन्म हुआ है। और उसका जो तथाकथित विद्रोह है वह ? वह भी व्यक्ति आधारित है। इसलिये गोबी के रेगिस्तान में किसी अनजानी खारी नमकीन झील में जाकर वह खुदकशी कर लेगा।"[2]

नयी कविता का आत्मसंघर्ष (सन् 60) में जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि पर एक बार फिर प्रहार करते हुए वे लिखते हैं "सच तो यह है जो काव्यात्मक एक बन्द सन्दूक (क्लोज्ड सिस्टम) बनाता है (तुम नहीं व्याप सकते तुम में जो व्यापा है, उसी को निबाहो) वह जड़ी सौंदर्याभिरुचि ही प्रस्तुत कर रहा है। इसी तरह की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 4, पृ0 107.
2. वही0 पृ0 163.

अपने ढरें के बाहर प्रचलित नयी काव्य प्रवृत्ति में विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नहीं देख पाते । जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि एक विशेष शैली को दूसरी विशेष शैली के विरुद्ध स्थापित करती है । गीतों का नयी कविता से कोई विरोध नहीं है ... किंतु जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि जबर्दस्ती का विरोध पैदा कर देगी । वह स्वयं अपनी धारा का विकास भी कुण्ठित करेगी, साथ ही पूरे साहित्य का । नयी कविता में स्वयं ही कई भावधारायें हैं एक भीवधारा नहीं है । इनमें से एक भावधारा में प्रगतिशील तत्व पर्याप्त हैं, उनकी समीक्षा होनी आवश्यक है ।"[1]

मुक्तिबोध के इस वक्तव्य में आधुनिकतावादी भावधारा के प्रमुख अज्ञेय और प्रगतिवादी आलोचक डा० राम विलास शर्मा दोनों का विरोध किया गया है । डा० राम विलास शर्मा के नयी कविता से संबंधित विभिन्न लेखों को देखने से यह बात प्रमाणित होती है कि वे नयी कविता को ठीक से समझ न सके । "नयीकविता और अस्तित्ववाद" लेख तो जैसे सरलीकृत उद्धरणवादी आलोचना का दस्तावेज हैं । इसमें जैसा मुक्तिबोध ने लिखा था, अपने सैद्धान्तिक ढाँचे में फिट होने वाले उद्धरणों को चुन-चुनकर सजाया गया है, और शेष सारी रचनाओं को छोड़ दिया गया है । ऐसी ही आलोचनाओं को ध्यान में रखकर संभवतः मुक्तिबोध ने लिखा होगा " लगता है कि समीक्षक सत्यरूपी वटवृक्ष की छाया में बैठकर स्थापनाओं की व्याख्या कर रहा है । और उनस्थापनाओं के प्रकाश में वह साहित्यिक कृति को वह उन स्थापनाओं की पुष्टि

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 334.

के लिये, उदाहरण के रूप में ... अपयोजित कर रहा है ।"[1]

"समीक्षा की समस्यायें" (सन् 63) लेख में प्रगतिवादी और आधुनिकतावादी साहित्य-मान्यताओं की सीमाओं को उजागर कर दिया गया है । एक तरह से इस लेख में पहले कही गयी बातों को एकत्रित कर दिया गया है । आधुनिकतावादी सौंदर्यानुभूति पर टिप्पणी करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि "यदि हम मान लें कि सौंदर्यानुभूति जगी और तुरंत विलोपित (हो) गयी तो यह भी स्वीकार करना होगा कि यह सौंदर्यानुभूति बहुत ही बिजली है -- इतनी कि उसे हम केवल संवेदनात्मक प्रतिक्रिया पुंज ही कह सकते हैं ।"[2]

इस प्रकार हम पाते हैं कि मुक्तिबोध ने नयी कविता का जो सांगोपांग विवेचन किया है, वह हिन्दी आलोचना में बेजोड़ है, इस बात के बावजूद कि मुक्तिबोध के यहाँ बातों को अनेक बार दुहराया गया है ।

शमशेर का काव्य --

शमशेर पर लिखा गया मुक्तिबोध का लेख व्यावहारिक समीक्षा का एक प्रतिमान है । इसमें शिल्प-भाषा, वस्तु-रूप आदि का सर्वांग विवेचन मिलता है । मुक्तिबोध के अनुसार अपने शिल्प

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 149.
2. वही० पृ0 168.

का विकास केवल वही रचनाकार कर सकता है, जिसके पास कहने के लिये अपना कुछ खास है, और वह उसे उसी रूप में व्यक्त करना चाहता है ।

मुक्तिबोध के शब्दों में "इस मौलिक विशेष के दो आयाम हैं -- एक मनोरचना अर्थात आत्मा का भूगोल और दूसरे मनस्तत्व अर्थात आत्मा का इतिहास । इस भूगोल और इतिहास से मौलिक विशेष का निर्माण हुआ है । यह मौलिक विशेष आत्मचेतस् होकर अपनी सत्ता स्थापित करता है । उसी आत्म प्रस्थापना का एक रूप शिल्प का विकास है । दूसरे शब्दों में शिल्प का विकास काव्य व्यक्तित्व से अटूट रूप से जुड़ा हुआ है ।"[1]

वस्तुतः "शमशेर की मूलवृत्ति इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार की है .... इम्प्रेशनिस्ट चित्रकार दृश्य के सर्वाधिक संवेदनाघात करने वाले अंशों को प्रस्तुत करेगा, और यह मानकर चलेगा कि यदि संवेदनाघात दर्शक के हृदय में पहुँच गया तो दर्शक अचित्रित शेष अंश को अपनी सृजन शील कल्पना से भर लेगा ।"[2] पर "इम्प्रेशनिस्ट ढंग का चित्रकार जीवन में उलझी हुई स्थितियों का चित्रण नहीं कर सकता-- वह उसके दृश्य खंडों को ही प्रस्तुत कर सकता है । उस विविध दृश्य खंड में भी वह दृश्य के सूक्ष्म पक्षों को प्रस्तुत नहीं कर सकता । किंतु कवि वैसा कर सकता है ।"[3]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 428-29.
2. वही0 पृ0 430.
3. वही0 पृ0 430.

शमशेर के यहाँ "पदच्युत चित्रकार के पिल सिंहासन पर कवि विराजमान है, वह सिंहासन अपनी जादुई शक्ति से कवि को बाध्य करता है कि वह इम्प्रेशनिस्टिक टेकनीक और मनोवृत्ति अपनाए और इस प्रकार इम्प्रेशनिस्ट चित्रकला के मूल नियमों को काव्य-कला में गुप्त रूप से संस्थापित करे।"[1] लेकिन कभी कभी पदच्युत चित्रकार के सिंहासन और उस पर विराजमान कवि मैं झगड़ा हो जाता है। कवि चाहने लगता है कि सिंहासन के चुंगुल से छूटकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत करे। और तब शमशेर एकदम कुलाँट खाकर क्लासिकल पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं बहुत बार वे सफल होते नजर आते हैं। उनकी "शांति" कविता इसका एक अत्यंत महत्वपूर्ण और सफल उदाहरण है।"[2]

शमशेर पर दुरूहता का जो आरोप लगाया जाता है, उसका एक कारण यांत्रिक सामान्यीकरण की आदत है -- "विशिष्ट की मौलिकता की कीमत पर जो सामान्यीकरण होगा वह छिछला और सतही होगा।"[3] जबकि "शमशेर सामान्यीकृतभावनाओं और सामान्यीकृत रूपों के कवि नहीं हैं।"[4] "शमशेर की संवेदना - दृष्टि भाव प्रसंग के विशिष्ट पर टिकती हैं। .... उनकी यथार्थ-वादिता भाव प्रसंग में, मानसिक प्रतिक्रियाओं की प्रसंगबद्धता के निर्वाह में हैं।.... यदि भाव प्रसंग भीतर से बहुत हिला देने वाला

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 430.
2. वही0 पृ0 432.
3. वही0 पृ0 432
4. वही0 पृ0 432.

और महत्वपूर्ण हुआ तो शमशेर की प्रतिक्रियायें भी तीव्र व्याख्यात्मक रूप में प्रकट होती हैं । किंतु यदि वास्तविकता ने भाव प्रसंग ही कम महत्वपूर्ण पेश किया तो वहाँ शमशेर का काव्य फीका हो जायेगा कवि स्वभाव की दृष्टि से यह निश्चित होगा कि कौन सा भाव-प्रसंग उनके लिये विशेष महत्वपूर्ण है और कौन सा कम । .....
एक भाव प्रसंग में विभिन्न संवेदनाओं के प्रभावकारी गुणों के चित्र प्रस्तुत करना शमशेर ही का काम है । वे एक संवेदना की कोमलता को दूसरी संवेदना की कोमलता से पृथक कर दोनों की विभिन्न कोमलताओं के चित्र प्रस्तुत करते हैं ।.... शमशेर संवेदना का चित्रण मुख्यत: दो प्रकार से करते हैं । संवेदना की तीव्रता बताने के लिये बहुत बार वे नाटकीय विधान प्रस्तुत करते हैं । संवेदना के विभिन्न गुण चित्र प्रस्तुत करने के लिये वे मन:प्रतिक्रियाओं का, इमेज का सहारा लेते हैं । ये इमेज उनके अवचेतन अधचेतन से उत्पन्न होते हैं । शमशेर का शब्द चयन अत्यंत सचेत और संवेदनानुगामी होता है ।"[1]

"इम्प्रेशनिस्ट चित्रकला के अनुसार शमशेर पार्श्वभूमि को महत्व नहीं देते । वे केवल उन्हीं संवेदनाघातों का चित्रण करते हैं जो अत्यंत प्रभावकारी तो हैं ही, साथ ही जो कवि दृष्टि से विशेष संकेत महत्व रखते हैं ।"[2] किंतु "शब्द ध्वनि रंगशक्तिहीन नहीं है । केवल एक ही शब्द की ध्वनि तुरंत ही मनश्चक्षु पर रंगों आकारों और रूपों में प्रकट नहीं हो सकती । शब्द वस्तुत: अमूर्त होते हैं ।

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 433 - 34
2. वही0 पृ0 435.

वे प्रवृत्ति की सूचनाओं की प्रथम संकेत व्यवस्था के भाग न होकर द्वितीय संकेत व्यवस्था के भाग हैं । वह मूलभूत सूचनाओं की सूचना हैं । ... यह सूचना प्रथम की तुलना में काफी अमूर्त है ..... इसलिये जब तक विशेष और विस्तृत तथा जटिल उपाय अमल में न लाये जायें, तब तक द्वितीय संकेत व्यवस्था द्वारा दी गयी सूचनाएं प्रथम संकेत व्यवस्था का उद्दीपन और उत्तेजन नहीं कर सकतीं । अत: चित्रकला में रंग संकेत जितने कारगर हों, उतने केवल शब्द संकेत काम न कर सकेंगे । केवल एक एक शब्द की एक एक पंक्ति का अर्थ टोकर संक्षेपीकरण करते रहने से बहुत बार बात नहीं बन पाती ।"[1]

शमशेर के शिल्प के संदर्भ में दूसरी समस्या यह है कि "प्रसंग वह भावना की प्रसंग-विशिष्टता को सुरक्षित रखकर, प्रसंग को पार्श्वभूमि से हटाते हुए उसको बिल्कुल उड़ा देने से काव्य के रसास्वादन में कुछ तो बाधा होती ही है .... यदि पार्श्वभूमि अत्यधिक विशिष्ट है तो पार्श्वचित्र और भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठते हैं । पार्श्वभूमि के सहारे पाठक प्रसंग कल्पना बहुत आसानी से कर सकता है । किंतु शायद शमशेर बेपर्दगी बरतना नहीं चाहते ।"[2]

कुल मिलाकर "शमशेर प्रणयजीवन के प्रसंगबद्ध रसवादी कवि हैं । ... संभवत: संक्षेपीकरण की उनकी प्रवृत्ति विशेष तत्वों के बारे में अधिक सक्रिय है । यह संक्षेपीकरण सामाजिक, राजनैतिक तथा

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ0 435.
2. वही0 पृ0 435 - 36.

प्रणयजीवन से हटे हुए अन्य विषयों के क्षेत्र में अधिक सक्रिय नहीं रहता । यहाँ तो वे क्लासिकल पूर्णता की ओर अधिक झुकते हैं । प्रणयजीवन के जितने विविध और कोमल चित्र वे प्रस्तुत करते हैं उतने शायद और किसी और कवि में नहीं दिखायी देते ।"[1]

---

1. मुक्तिबोध रचनावली, खंड 5, पृ० 436.

संदर्भ ग्रन्थ

हिन्दी--

1. कुमार विमल, : "काव्य रचना प्रक्रिया", बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 74.
2. निर्मल शर्मा (संपादक) : "मुक्तिबोध", अपी प्रकाशन, रतलाम, 80.
3. नामवर सिंह : "कविता के नये प्रतिमान", राजकमल, दिल्ली, 68.
4. नामवर सिंह : "दूसरी परम्परा की खोज", राजकमल, दिल्ली, 83.
5. नामवर सिंह : "नया साहित्य प्रकाशन", इलाहाबाद, 62. ('इतिहास और आलोचना')
6. मुक्तिबोध, गजानन माधव, : "मुक्तिबोध रचनावली," खंड 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 80.
7. मुक्तिबोध गजानन माधव, : "मुक्तिबोध रचनावली", खंड 5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 80.
8. मुक्तिबोध गजानन माधव, : "मुक्तिबोध रचनावली", खंड 4, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 85.
9. मुक्तिबोध, गजानन माधव, : "मुक्तिबोध रचनावली," खंड 5, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 85.
10. मुक्तिबोध, गजानन माधव, : "मुक्तिबोध रचनावली", खंड 6, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 85.

11. मुक्तिबोध, गजानन : "मुक्तिबोध रचनावली", खंड 2, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 85.

12. माओत्से तुंग : संकलित रचनाएं, खंड 4, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पेइचिंग, 75.

13. रामविलास शर्मा : "भाषा युगबोध और कविता", वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 80.

14. रामविलास शर्मा : "नयी कविता और अस्तित्ववाद", राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 78.

15. रामविलास शर्मा : "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना", विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 59.

16. रामविलास शर्मा : "आस्था और सौंदर्य", किताब महल, इलाहाबाद, 1883 शकाब्द.

पत्रिका

1. आलोचना", संपादक - डा० नामवर सिंह, अक्टूबर-दिसम्बर, 83 तथा जनवरी-मार्च, 84, दिल्ली.

अंग्रेजी--

1. Bennet, Tony : 'Formalism and Marxism,' Nathuen & Co. Ltd.,London,79

2. Evans, Mary : 'Lucein Goldman; An Introduction! Harvert Press Ltd.,Great Britain, 81.

3. Holub, Robert C. : 'Reception Theory', Nathuen & Co. Ltd.,London

4. Taylor, Raymond (Ed.) : 'Aesthetics and Poltics', N.L.B.,Verso,80

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी--

1. अनंत शर्मा : "गजानन माधव मुक्तिबोध : व्यक्तित्व और कृतित्व, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 83.
2. द्वारिका प्रसाद : "आलोचक मुक्तिबोध, दिल्ली.
3. पुष्पलता राठौर : "मुक्तिबोध के आलोचना सिद्धान्त", पंचशील प्रकाशन जयपुर, 76.
4. मोतीराम शर्मा : "मुक्तिबोध का गद्य साहित्य", विद्यार्थी प्रकाशन, दिल्ली, 73.
5. रामविलास शर्मा (सम्पादन) : "लोक जागरण और हिन्दी साहित्य", : वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 85.
6. ललन राय : "मुक्तिबोध का साहित्य विवेक और उनकी कविता", मन्थन पब्लिकेशन, रोहतक, 82.
7. शिवमूर्ति पाण्डेय : "टी० एस० इलियट के आलोचना सिद्धान्त", आलेख प्रकाशन, दिल्ली, 79.

अंग्रेजी--

1. Benjamin, Walter, : Illuminations', Fontana,82
2. Caulwell, Christopher : &Illusion and Reality', PPH, Delhi,78
3. Eagleton, Terry : 'Marxism and Literary Criticism', Nathuen & Co. Ltd.,London,83

4. Hauser, Arnold : 'Social History of Arts', Vol. 4, Vantage Books, New York

5. Hall, J.R. Vernon : 'A Short History of Literary Criticism', New York University Press, 63

6. Hall, John : 'Sociology of Literature', Longman Group Ltd., London, 79

7. Johnson, Pauline : 'Marxist Aesthetics', Routledge & Kegan Pal, London

8. Lukacs, George : 'Meaning of Contemporary Realism', Merlin Press, London, 79

9. Macherey, Pierre : 'A Theory of Literary Production', Routledge & Kegan Pal, London, 78

10. Spender, Stephen : 'Eliot', Fontana Paper Back, 82

11. Williams, Raymond : 'Marxism and Literature', Oxford, London, 77

12. Willia ymond : 'Key Words', Fontana, 83

13. William K. Wimsatt JR & Cleanth Brooks : 'Literary Criticism : A Short History', Mohan Primlani, Oxford & IBH Publishing & Co., Delhi

14. William J. Handy and Max West Brook : 'Twentieth Century Criticism', Light & Life Publishers, Delhi.

....